भारतीय पूंजीपति वर्ग के चरित्र के बारे में

''...अधिकांश राष्ट्रीय आंदोलनों का क्रांतिकारी चरित्र निस्सन्देह उतना ही विशिष्ट एवं सापेक्ष है,जितना किन्हीं राष्ट्रीय आंदोलनों का संभावित प्रतिक्रियावादी चरित्र। साम्राज्यवादी उत्पीड़न की परिस्थितियों में किसी राष्ट्रीय आन्दोलन के चरित्र के क्रांतिकारी होने के लिए यह जरुरी नहीं है कि उस आंदोलन में सर्वहारा तत्व अनिवार्यतः मौजूद हों, कि उस आंदोलन के पास कोई क्रांतिकारी अथवा गणतांत्रिक कार्यक्रम हो, कि उस आंदोलन के अस्तित्व का कोई जनवादी आधार हो। अफगानिस्तान के अमीर द्वारा अफगानिस्तान की आजादी के लिए चलाया जा रहा संघर्ष, अमीर एवं उसके सहयोगियों के राजतंत्रवादी दृष्टिकोण के बावजूद, वस्तुगत तौर पर एक ***क्रांतिकारी*** *संघर्ष है, क्योंकि यह संघर्ष साम्राज्यवाद को खोखला बनाता है,उसे कमजोर एवं विखंडित करता है। जबकि साम्राज्यवादी युद्ध के दौरान केरेन्सकी, त्सेरेतेली, रेनोदिल, शीडेमान, चेर्नोव तथा दान, हेंडर्सन तथा क्लैंस जैसे ''जनवादियों,'' ''समाजवादियों'' एवं ''क्रांतिकारियों'' के संघर्ष* ***प्रतिक्रियावादी*** *संघर्ष थे क्योंकि इनके परिणाम साम्राज्यवाद को मजबूत करते थे,उसे संवारते थे,उसे विजयी बनाते थे। ठीक इन्हीं कारणों से मिस्र के व्यापारियों एवं बुर्जुआ बुद्धिजीवियों द्वारा मिस्र की आजादी के लिए चलाया जा रहा संघर्ष, उसके नेताओं की बुर्जुआ उत्पत्ति एवं बुर्जुआ उपाधियों के बाबजूद,उसके नेताओं के समाजवाद– विरोधी रूख के बावजूद, वस्तुगत तौर पर एक* ***क्रांतिकारी*** *संघर्ष है। जबकि मिस्र की पराश्रित स्थिति को बनाये रखने के लिए ब्रिटेन की ''लेबर '' सरकार का संघर्ष,सरकार के सदस्यों की सर्वहारा उत्पत्ति एवं सर्वहारा उपाधियों के बावजूद, समाजवाद के पक्ष में उनकी घोषित अवस्थिति के बावजूद, इन्हीं कारणों से एक* ***प्रतिक्रियावादी*** *संघर्ष है। भारत और चीन जैसे बड़े, उपनिवेश और पराश्रित देशों के राष्ट्रीय आंदोलनों की तो बात करने की जरुरत ही नहीं है,जहां आजादी के रास्ते पर हर कदम साम्राज्यवाद के लिए घन की मार है, भले ही वह आंदोलन औपचारिक जनवाद की मांगों से बेमेल हो। अर्थात ये निस्सन्देह,* ***क्रांतिकारी*** *कदम है।*

''लेनिन बिल्कुल सही थे जब वे कहते थे कि उत्पीड़ित देशों के राष्ट्रीय आंदोलन का मूल्यांकन औपचारिक जनवाद के दृष्टिकोण से नहीं किया जाना चाहिए, कि यह मूल्यांकन साम्राज्यवाद के खिलाफ संघर्ष की 'बैलेंस–शीट' पर अंकित परिणामों के आधार पर किया जाना चाहिए,यानि कि हमें राष्ट्रीय आंदोलन को अलग–थलग नहीं बल्कि वैश्विक पैमाने पर देखना चाहिये।'' (जोसेफ स्तालिन, मई 1924, ' लेनिनवाद के आधार ''राष्ट्रीय प्रश्न'',' फॉरन लैंग्वेज प्रेस, पीकिंग, 1976, अनुवाद हमारा, जोर स्तालिन का)

हम भी जोसेफ स्टालिन से इत्तेफाक रखते हैं कि भारत का राष्ट्रीय आंदोलन एक प्रगतिशील एवं क्रांतिकारी आंदोलन था,जिसके विकास ने साम्राज्यवाद को क्रमशः कमजोर किया भले ही उसकी परिणति किसी बुर्जुआ क्रांति या नव जनवादी क्रांति में न हो पायी हो। इस आंदोलन के गांधीवादी नेतृत्व की गैरक्रांतिकारी सोच के बावजूद इस आंदोलन ने वैश्विक पैमाने पर और भारत में, दोनों ही स्तरों पर साम्राज्यवाद को पीछे धकेला और प्रतिक्रियावाद को कमजोर किया। 1947–48 में इस आंदोलन की परिणति के बतौर उप–महाद्वीप में प्रत्यक्षतः साम्राज्यवादी शासन समाप्त हुआ और घरेलू पूंजीपतियों का शासन कायम हुआ।

उक्त बातों के साथ–साथ यह बात भी उतनी ही सही है कि यह युग साम्राज्यवाद का युग है और इस युग में कोई भी पूंजीवादी राजसत्ता साम्राज्यवाद से पूर्ण विच्छेद नहीं कर सकती है। कि इस दौरान अविकसित अथवा विकासशील गैर–समाजवादी देशों के लिए साम्राज्यवादी उत्पीड़न बना रहेगा,उसका रूप चाहे जो भी हो; प्रत्यक्ष उपनिवेशवाद, नव–उपनिवेशवाद, आर्थिक नव–उपनिवेशवाद। ऐसे में यह बहुत जरूरी है कि 'नव–स्वाधीन' देश और साम्राज्यवाद के बीच के अंतरसंबंधों को ठोस रूप में जाना–समझा जाय, कि दासता (bondage) और पराश्रितता (dependence) को नापा–तौला जाय। इस ठोस मूल्यांकन के बगैर किसी भी क्रांति की न तो ठीक रणनीति ही बनाई जा सकती है और न ही क्रांतिकारी, रणकौशल के मामलों में, भटकावों का शिकार हुए बगैर पर्याप्त लचीलापन प्रदर्शित किया जा सकता है।

भारत की मेहनतकश जनता के ऊपर घरेलू पूंजीपति वर्ग का शासन कायम हुए आज 55 साल हो रहे हैं। आधी शताब्दी से ज्यादा लम्बे शासन काल के दौरान इस वर्ग ने अनेक संकटों का सामना किया है, लेकिन वह अपना विकास करने में सफल रहा है। दक्षिण–एशिया ही नहीं उसने दुनिया के रंगमंच पर भी अपने लिए जगह बनाई है। ऐसे में इसके चरित्र को ठीक से समझे बगैर, इसके वर्गीय हितों को समझे बगैर, इसकी महत्वाकांक्षाओं को जाने बगैर, साम्राज्यवाद के साथ इसके संबंधों को ठीक–ठीक समझे बगैर भारतीय क्रांति की सही रणनीति तय नहीं हो सकती है और न ही रणकौशल में लचीलापन बरता जा सकता है। भारतीय पूंजीपतियों के वर्ग का चरित्र क्या है और साम्राज्यवाद के साथ वे कैसे रिश्ते रखते हैं, इस प्रश्न के अनेक उत्तर दिये जा सकते हैं और ये उत्तर भारत में कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों के बीच टूट–फूट व बिखराव को जन्म देते हैं। आज भारत में मार्क्सवाद–लेनिनवाद–माओ विचारधारा का झंडा बुलन्द करने वाले सामान्यतः इस प्रश्न के छह भिन्न–भिन्न जवाब देते हैं। वे हैं :–

(1) भारत के पूंजीपतियों का वर्ग दो हिस्सों में विभक्त है। इसमें से बड़े पूंजीपतियों की बिरादरी की उत्पत्ति अंग्रेजों के दलालों के बतौर हुई थी और वे आज तक साम्राज्यवाद के दलाल हैं। जबकि मझोले पूंजीपतियों का चरित्र राष्ट्रीय है। अपने राष्ट्रीय चरित्र के कारण ये भारतीय क्रांति के ढुलमुल सहयोगी हैं। दलाल पूंजीपति इजारेदार है और उन्होंने राजसत्ता को पूर्णतः अपने हाथों में समेटा हुआ है,इसलिए इन्हें दलाल नौकरशाह पूंजीपति भी कहा जाता है। ये साम्राज्यवाद के पिट्ठू हैं। साम्राज्यवाद से स्वतंत्र इनका कोई वजूद नहीं है। ये क्रांति के दुश्मन हैं।

(2) भारत के पूंजीपतियों का वर्ग दो हिस्सों– दलाल व राष्ट्रीय– में विभक्त है। किन्तु 1947 के सत्ता हस्तान्तरण के बाद स्थितियां दलाल पूंजीपतियों के लिए और अनुकूल हुई हैं तथा राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग के प्रतिकूल हुई हैं। इजारेदार पूंजीपति यानि कि दलाल नौकरशाह पूंजीपति साम्राज्यवाद के पिट्ठू हैं और भारतीय क्रांति के दुश्मन हैं। मझोले पूंजीपतियों का एक हिस्सा भी साम्राज्यवाद–परस्त हो गया है। मझोले पूंजीपतियों का एक भाग अभी राष्ट्रीय पूंजीपति है। ये भारतीय क्रांति के ढुलमुल सहयोगी हैं।

(3) भारत का पूंजीपति वर्ग दो हिस्सों में– दलाल व राष्ट्रीय– में विभक्त है। इजारेदार पूंजीपति दलाल है और राजसत्ता के साथ मिलकर दलाल–नौकरशाह पूंजीपति बनते हैं। साम्राज्यवाद और भारतीय जनता के बीच के अन्तरविरोध से अलग इन दलाल–नौकरशाह पूंजीपतियों का भारतीय जनता से पृथक अन्तरविरोध बनता है और यह अन्तरविरोध इतना महत्वपूर्ण है कि इसे साम्राज्यवाद–भारतीय जनता के बीच के अन्तरविरोध के समानांतर बुनियादी अन्तरविरोधों की श्रेणी में रखा जाना चाहिए। यानि कि भारत के इजारेदार पूंजीपति, साम्राज्यवाद से स्वतंत्र, भारतीय जनता से अपना कोई पृथक दुश्मनाना रिश्ता (अंतरविरोध) रखते हैं। मझोले पूंजीपतियों का चरित्र राष्ट्रीय है और वे भारतीय क्रांति के ढुलमुल सहयोगी हैं।

(4) भारत के पूंजीपति बड़े व मझोले पूंजीपतियों में अथवा इजारेदार व गैर इजारेदार में तो विभक्त हैं लेकिन साम्राज्यवाद–परस्ती और साम्राज्यवाद–विरोध के आधार पर इन्हें दलाल व राष्ट्रीय में नहीं बांटा जा सकता। भारतीय पूंजीपतियों का समूचा वर्ग (बड़े, मझोले, इजारेदार या गैर इजारेदार सभी) साम्राज्यवाद से विरोध और संश्रय के दोहरे रिश्ते रखता है। इसे दलाल व राष्ट्रीय में विभक्त न करके, राष्ट्रीय–सुधारवादी बुर्जुआ कहा जाना चाहिए। इस वर्ग की उत्पत्ति अंग्रेजों के आढ़तियों व साहूकारों के बतौर हुई थी लेकिन राष्ट्रीय आंदोलन के विकास एवं अनुकूल अंतर्राष्ट्रीय परिस्थितियों में इसके गैर दुश्मनाना साम्राज्यवाद–विरोध के पक्ष का भी विकास हुआ। 1947 के बाद राजसत्ता इसी राष्ट्रीय–सुधारवादी बुर्जुआ के पास आई और अपने आप को आगे बढ़ाने के लिए इसने उसका खुलकर उपयोग किया। हालांकि यह वर्ग साम्राज्यवाद का गुर्गा नहीं है और साम्राज्यवाद से इसका अंतरविरोध भी है लेकिन तब भी इस वर्ग का कोई हिस्सा (मझोला या गैर इजारेदार)आज क्रांति का ढुलमुल सहयोगी भी नहीं है। यह पूरा वर्ग क्रांति विरोधी है और क्रांति विरोधी ही बना रहेगा।

(5) भारत के पूंजीपतियों की उत्पत्ति अंग्रेजों के दलाल के बतौर हुई लेकिन राष्ट्रीय आंदोलन के काल में इनके बीच दलाल व राष्ट्रीय का कोई बंटवारा सामने नहीं आया। यही स्थिति 1947 के बाद 1991 तक बनी रही। परन्तु 1991 से शुरू हुए ढांचागत समायोजन के चलते इसका चरित्र पहले जैसा नहीं रहेगा। इसका इजारेदार हिस्सा अब तक हासिल सीमित संप्रभुता का समर्पण कर देगा इस वर्ग की निचली कतारें साम्राज्यवाद के विरोध में व क्रांति के पक्ष में ढुलमुल राष्ट्रीय अवस्थितियां ले सकती हैं। यानि कि 1991 के बाद पैदा हुई नई परिस्थितियों में इस वर्ग का ऊपरी हिस्सा साम्राज्यवाद के गुर्गे में तबदील हो जायेगा और निचला हिस्सा उससे अलग होकर ढुलमुल राष्ट्रवादी अवस्थितियां अपना सकता है। या दूसरे शब्दों में 1991 तक भारतीय क्रांति में ज्यादा से ज्यादा तीन वर्गों का संश्रय कायम हो सकता था,लेकिन 1991 के बाद चार वर्गों के संश्रय की सम्भावनाएं पैदा हो रही हैं।

(6) द्वितीय विश्व युद्ध के बाद के काल में, साम्राज्यवाद के चरित्र में बुनियादी परिवर्तन आया है। यह सामान्य आर्थिक नियमों के तहत संचालित वैश्विक पूंजीवाद में बदल गया है। इसमें अब पूंजीवाद के सामान्य आर्थिक नियमों के तहत ही शोषण हो रहा है । ऐसे में जब साम्राज्यवाद,साम्राज्यवाद ही नहीं रहा तब अब दुनिया में छोटी और बड़ी पूंजी के ही रिश्ते बचते हैं। ऐसे में साम्राज्यवादी–पूंजी, उसके प्रभुत्व, दलाल–पूंजीपति या राष्ट्रीय–पूंजीपति, उत्पीड़ित –देश इत्यादि की श्रेणियां ही बेमानी हो गई हैं।

सुस्पष्ट है कि ये मत इतिहास के अलग–अलग विश्लेषणों की बदौलत मौजूद हैं। इन्हें हल करने के लिए भारत के क्रांतिकारियों को आपस में तीखा वैचारिक संघर्ष चलाना पड़ेगा। इस वाद–विवाद में हम भारतीय पूंजीपति वर्ग के चरित्र के बारे में और अधिक स्पष्टता हासिल करेंगे। भारतीय क्रांति की सही रणनीति और रणकौशलात्मक लचीलेपन की गुंजाइश, बहुत कुछ इस महत्वपूर्ण प्रश्न के सही जवाब पर निर्भर करती है। इस लेख द्वारा हम इस महत्वपूर्ण प्रश्न का जवाब देने का प्रयास करेंगे। हम पहली तीन अवस्थितियों को खारिज करते हैं और पांचवी व छठी अवस्थिति को भी खारिज करते हैं। इस लेख द्वारा हम चौथी अवस्थिति को स्थापित करेंगे।

कुछ सैद्धान्तिक प्रस्थापनाएं

यहां हम उपनिवेशवाद विरोधी संघर्षों के दौरान,जब साम्राज्यवाद–विरोधी, सामंतवाद– विरोधी क्रांति कार्यसूची पर थी, दी गयी कुछ सैद्धान्तिक प्रस्थापनाओं पर विचार करेंगे।

तीसरे इंटरनेशनल की आम दिशा तय करते हुए, कौमिंटर्न की दूसरी कांग्रेस में लेनिन ने कहा था कि *''...हमने इस बात का विवेचन किया है कि उसूली तौर पर और सिद्धान्ततः यह कहना सही होगा या गलत कि कम्युनिस्ट इंटरनेशनल और कम्युनिस्ट पार्टियों को पिछड़े हुए देशों में बुर्जुआ–जनवादी आंदोलन का समर्थन करना चाहिए। अपने विवेचन के परिणामस्वरूप हम इस सर्वसम्मत निर्णय पर पहुंचे हैं कि ''बुर्जुआ–जनवादी'' आन्दोलन के बजाय* ***राष्ट्रीय–क्रांतिकारी आंदोलन*** *की बात की जाय। यह संदेह के परे है कि कोई भी राष्ट्रीय आंदोलन केवल बुर्जुआ–जनवादी आंदोलन ही हो सकता है,क्योंकि पिछड़े हुए देशों में आबादी का अत्यधिक भारी बहुलांश किसानों का ही होता है जो बुर्जुआ पूंजीवादी संबंधों का प्रतिनिधित्व करते हैं।....तथापि यह आपत्ति की गई है कि अगर हम बुर्जुआ–जनवादी आंदोलन की बात करते हैं, तो यह सुधारवादी और क्रांतिकारी आंदोलनो के बीच के सारे अंतरों को मिटा देना होगा। तिस पर भी हाल के समय में यह अंतर पिछड़े हुए तथा औपनिवेशिक देशों में बहुत स्पष्टता के साथ प्रकट हुआ है, क्योंकि साम्राज्यवादी बुर्जुआ वर्ग उत्पीड़ित राष्ट्रों में भी सुधारवादी आंदोलन रोकने के लिये अपनी शक्ति भर सभी कुछ कर रहा है। शोषक देशों के बुर्जुआ वर्ग और उपनिवेशों के बुर्जुआ वर्ग मे किसी हद तक सौहार्दस्थापन हुआ है, जिससे कि उत्पीड़ित देशों का बुर्जुआ वर्ग, यद्यपि वह राष्ट्रीय आंदोलन का समर्थन अवश्य करता है,बहुधा, संभवतः अधिकांश मामलों तक में, साम्राज्यवादी बुर्जुआजी से पूर्णतः एकरस रहता है, अर्थात सभी क्रांतिकारी आन्दोलनों और वर्गों के खिलाफ उसके साथ मिल जाता है।''* (लेनिन, ' पूर्व में जातीय मुक्ति आंदोलन,' प्रगति प्रकाशन, मास्को, 1983, पृष्ठ 326–327)

इस महत्वपूर्ण दस्तावेज में लेनिन ने देशी पूंजीपतियों की उस प्रवृति को, जो कि साम्राज्यवादियों से मेल–मिलाप करती है और जो क्रांतिकारी आंदोलन व क्रांतिकारी वर्गों के खिलाफ साम्राज्यवादियों के साथ एकता कायम करती है, को सुधारवादी प्रवृत्ति के रूप में चिन्हित किया है और इसे राष्ट्रीय आंदोलन की क्रांतिकारी प्रवृत्ति से अलग किया है। लेनिन का यह भी मानना है कि यह सुधारवादी प्रवृत्ति वैसे राष्ट्रीय आंदोलन के बरखिलाफ नहीं है,कि यह उसके समर्थन में है। दूसरे शब्दों में में यह एक क्रांति विरोधी, अर्थात सुधारवादी, राष्ट्रीय प्रवृत्ति है। यानि कि क्रांति के खतरे से बचते हुए यह राष्ट्र–मुक्ति चाहती है।

1928 में कोमिंटर्न की छठी कांग्रेस हुई। इस कांग्रेस ने लेनिन की मूल थीसिस को सही ठहराते हुए उपनिवेशों के पूंजीपति वर्ग के चरित्र के बारे में और खुलासा किया। छठी कांग्रेस के मुताबिक, *''...इस पूंजीपति वर्ग का एक हिस्सा, विशेषकर व्यापारिक पूंजीपति,सीधे–सीधे साम्राज्यवादी पूंजी की सेवा करता है (ये तथाकथित दलाल पूंजीपति हैं)। सामान्यतः,ये*

एक निरंतरता के साथ कम या ज्यादा मात्रा में राष्ट्रीय आंदोलन के खिलाफ, साम्राज्यवाद के सामंती सहयोगियों और ऊंची तनख्वाहों वाले घरेलू अफसरों के साथ मिलकर, राष्ट्र–विरोधी साम्राज्यवादी दृष्टिकोण की हिफाजत करते हैं। देशी पूंजीपतियों का शेष हिस्सा, विशेष तौर पर वह हिस्सा जो घरेलू उद्योग के हितों का प्रतिनिधित्व करता है, राष्ट्रीय आंदोलन का समर्थक है और उसकी एक विशेष ढुलमुल समझौतावादी प्रवृत्ति है जिसे राष्ट्रीय –सुधारवादी कहा जा सकता है (अथवा कम्युनिस्ट इंटरनेशनल की दूसरी कांग्रेस की भाषा में जिसे ''बुर्जुआ–जनवादी'' प्रवृति कहा गया है)।'' (Documents of the Communist Movement in India, National Book Agency, Calcutta पृष्ठ 928–929, खण्ड–1, अनुवाद हमारा)

यहां कोई गलतफहमी की गुंजाइश नहीं है। कम्युनिस्ट इंटरनेशनल की छठी कांग्रेस के मुताबिक दलाल पूंजीपति (जो कि विशेषकर व्यापारिक है) एक निरंतरता के साथ राष्ट्र–विरोधी है, साम्राज्यवाद परस्त हैं। वे राष्ट्रीय आंदोलन के विरोधी हैं। वे राष्ट्रीय सुधारवादी प्रवृत्ति में शामिल नहीं हैं। वे राष्ट्रीय आंदोलन के ढुलमुल समझौतावादी हिस्से नहीं हैं।

माओ–त्से–तुंग भी दलाल पूंजीपतियों की राष्ट्रीय आंदोलन में कोई सकारात्मक भूमिका नहीं देखते, न क्रांतिकारी और न ही सुधारवादी। वे कहते हैं :

''पूंजीपति वर्ग में बड़े दलाल–पूंजीपतियों के वर्ग और राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग के बीच फर्क है।

''बड़े दलाल–पूंजीपतियों का वर्ग एक ऐसा वर्ग है जो सीधा साम्राज्यवादी देशों के पूंजीपतियों की सेवा करता है और उन्हीं के टुकड़ों पर पलता है; देहातों में सामंती शक्तियों के साथ उसका अत्यन्त घनिष्ठ संबंध होता है। इसलिए चीनी क्रांति के इतिहास में वह कभी भी प्रेरक शक्ति नहीं रहा,बल्कि क्रांति के प्रहार का लक्ष्य रहा है।

''मगर बड़े दलाल–पूंजीपतियों के वर्ग के विभिन्न हिस्से विभिन्न साम्राज्यवादी देशों के वफादार हैं, इसलिए जब साम्राज्यवादी देशों के आपसी अंतरविरोध बहुत तेज हो जाते हें और क्रांति के प्रहार का लक्ष्य मुख्य रूप से कोई एक साम्राज्यवादी देश बन जाता है,तो दलाल पूंजीपति वर्ग के उन हिस्सों के लिए, जो दूसरे साम्राज्यवादी ग्रुपों की सेवा कर रहे हैं,किसी हद तक और कुछ समय के लिए तत्कालीन साम्राज्यवाद –विरोधी मोर्चे में शामिल हो जाना सम्भव हो जाता है। लेकिन ज्यों ही उनके आका चीनी क्रांति के खिलाफ हो जाते हैं, उसी क्षण वे भी क्रांति का विरोध करने लगते हैं।'' (माओ–त्से–तुंग, ' चीनी क्रांति और चीनी कम्युनिस्ट पार्टी ',संकलित रचनाएं, ग्रंथ–2, विदेशी प्रकाशन गृह ,पेकिंड., पृष्ठ 563–564)

दलाल पूंजीपति वर्ग के बारे में यहां दो मूल बातें स्थापित होती हैं। एक यह कि दलाल–पूंजीपति का अपना कोई अस्तित्व नहीं होता है, वह साम्राज्यवादियों के टुकड़ों पर पलता है और उसकी सेवा करता है। यानि कि वह एक पराश्रित वर्ग है। साम्राज्यवादी देश पर उत्पीड़ित राष्ट्र की पराश्रितता को बनाये रखने व बढ़ाने में ही उसके हित हैं। इसीलिए यह राष्ट्र विरोधी होता है। पराश्रितता में कमी उसके लिए घातक है। इसीलिए एक सुधारवादी की हैसियत से भी वह राष्ट्रीय आंदोलन में हिस्सेदारी नहीं करता है।

दूसरी बात यह कि वह अपने साम्राज्यवादी आका के प्रति वफादार होता है। किन्हीं अन्य जगहों पर माओ ने दलाल पूंजीपति को साम्राज्यवाद के पालतू कुत्ते भी कहा है। यानि कि अपने आका को बदलने या अपने आका से झगड़ा करके रिश्ते खराब करना उसकी फितरत में नहीं है। वह अपने आका के लिए दूसरे साम्राज्यवादी का विरोध तो कर सकता है,परन्तु वह अपने ही आका के खिलाफ नहीं जा सकता। यदि कोई ऐसा करता है अथवा किसी मुकाम पर आकर ऐसा करने लगता है,तो उसी क्षण से वह अपना दलाल चरित्र खो देता है। दलाल की जगह वह कुछ और बन जाता है।

राष्ट्रीय पूंजीपति के बारे में माओ लिखते हैं,

''राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग एक दुरंगे चरित्र वाला वर्ग है।

''वह एक ओर तो साम्राज्यवाद से उत्पीड़ित है और सामंतवाद की बेड़ियों में जकड़ा हुआ है इसलिए इन दोनों से उसका अन्तरविरोध है। इस मायने में वह क्रांतिकारी शक्तियों का हिस्सा है। चीनी क्रांति के इतिहास में उसने साम्राज्यवाद और नौकरशाहों व युद्ध सरदारों की सरकार के खिलाफ लड़ने में किसी हद तक उत्साह दिखाया है।

''लेकिन दूसरी ओर उसमें साम्राज्यवाद व सामन्तवाद का मुकम्मिल विरोध करने के साहस का अभाव है,क्योंकि वह आर्थिक व राजनैतिक दृष्टि से कमजोर है और साम्राज्यवाद व सामंतवाद के साथ अपने आर्थिक संबंधों को उसने अब भी पूरी तरह नहीं तोड़ा है। जब जनता की क्रांतिकारी शक्तियां विकसित होकर मजबूत हो जाती हैं,तो यह बात और स्पष्ट रूप से सामने आ जाती है।

''राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग के इस दुरंगे चरित्र से यह स्पष्ट हो जाता है कि किसी निश्चित समय और किसी हद तक यह साम्राज्यवाद और नौकरशाहों व युद्ध सरदारों की सरकार के खिलाफ क्रांति में भाग ले सकता है; लेकिन किसी दूसरे समय इसके बड़े दलाल–पूंजीपतियों के वर्ग का अनुयायी बनने और प्रतिक्रांति में उसका सह–अपराधी बनने का खतरा बना रहता है।

''चीन के राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग का,जो मुख्यतया मध्य पूंजीपति वर्ग है, राजनीतिक सत्ता पर वास्तविक अधिकार कभी नहीं रहा। बल्कि बड़े जमींदारों के वर्ग और बड़े पूंजीपतियों के वर्ग की,जिनका सत्ता पर कब्जा रहा है, प्रतिक्रियावादी नीतियों ने उसे सीमित रखा है, हालांकि 1927 से 1931 (18 दिसम्बर की घटनाओं से पहले)तक की अवधि में इसने क्रांति का विरोध करने में उनका साथ दिया था। जापान–प्रतिरोध के काल में यह न सिर्फ बड़े जमींदारों के वर्ग और बड़े पूंजीपतियों के आत्मसमर्पणवादियों से बल्कि बड़े पूंजीपतियों के वर्ग के कट्टरतावादियों से भी भिन्न है, और इस प्रकार यह अब तक हमारा अपेक्षाकृत अच्छा संश्रयकारी रहा है। इसलिए राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग के प्रति एक विवेकपूर्ण नीति अपनाना निहायत जरूरी है।'' (वही, पृष्ठ 565–566)

राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग की उक्त व्याख्या में भी दो बातें बहुत साफ हैं। एक यह कि राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग का साम्राज्यवाद से दुश्मनाना अंतरविरोध बनता है। वह साम्राज्यवाद के खिलाफ हथियारबंद लड़ाई की हद तक जाता है, हालांकि साम्राज्यवाद का मुकम्मिल विरोध करने की हिम्मत उसमें नहीं है। साम्राज्यवाद जितना मजबूत होगा उतना ही राष्ट्रीय पूंजीपति के लिए अहितकारी स्थिति होगी, और साम्राज्यवाद जितना कमजोर एवं बेअसर होगा उतना ही राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग के फलने–फूलने के लिए अनुकूल स्थिति होगी। राष्ट्रीय आंदोलन का आगे बढ़ना इस वर्ग के हित में है।

दूसरी तरफ यह कि राष्ट्रीय–पूंजीपति वर्ग किसी खास समय में,किसी हद तक साम्राज्यवाद–विरोधी, सामंतवाद–विरोधी क्रांति में हिस्सेदारी भी करता है। ऐसे मौकों पर वह सीधे–सीधे क्रांति में प्रत्यक्षतः लड़ता है। इस मायने में वह राष्ट्रीय–सुधारवादी बुर्जुआ से,जो कि हमेशा ही क्रांति–विरोधी होता है,नितान्त भिन्न है। राष्ट्रीय–पूंजीपति वर्ग क्रांति और प्रतिक्रांति दोनों के बीच झूलता है, जबकि राष्ट्रीय–सुधारवादी बुर्जुआ की चारित्रिक विशेषता ही उसका क्रांति–विरोधी, सुधारवादी रास्ता है।

साम्राज्यवाद जब भी किसी पिछड़े देश के सम्पर्क में आता है तो वह उस पिछड़ी अर्थव्यवस्था को अपने देश की अर्थव्यवस्था का पुछल्ला बनाने की कोशिश करता है। वह उस अविकसित अर्थव्यवस्था के आंतरिक संतुलन को बुरी तरह से बिगाड़ देता है, वह उस देश में उत्पादन की विभिन्न शाखाओं के बीच के सामंजस्य को तहस–नहस कर देता है, वहां के प्राकृतिक संसाधनों का बेरहमी से शोषण करता है, उत्पादन की किन्हीं चुनिन्दा शाखाओं का विकास करता है और शेष के विकास को या तो सीधे–सीधे खत्म करता है या फिर उन्हें उपेक्षावादी नीतियों द्वारा तहस–नहस करता है। कुल परिणाम यह कि पिछड़े देश की अर्थव्यवस्था का असामान्य विकास होता है,उसके स्वावलम्बन का ह्रास होता है और वह साम्राज्यवादी देश की अर्थव्यवस्था का पुछल्ला बन जाती है, साम्राज्यवादी देश पर आश्रित हो जाती है। यही वह जमीन है जिसमें पिछड़े देश के संपन्न लोगों के बीच से दलाल पूंजीपति वर्ग पैदा होता है–यानि कि, ऐसे लोगों का वर्ग जो पिछड़े देश में साम्राज्यवादियों का सामान बेचते हैं, पिछड़े देश से साम्राज्यवादियों की जरूरत का सामान इकट्ठा करते हैं, उनके काम–धंधों का इंतजाम एवं प्रबंधन करते हैं; उनके ठेके–पट्टे पर जीते हैं। ऐसे में स्वाभाविक ही है कि पराश्रितता का तत्व जितना बढ़ेगा या पिछड़े देश की अर्थव्यवस्था साम्राज्यवादी देश की अर्थव्यवस्था की जितना पुच्छल्ला बनेगी उतना ही दलाल पूंजीपतियों का फायदा होगा। दलाल–पूंजीपति वर्ग पिछड़े देश की अर्थव्यवस्था में संतुलन पैदा करने, उत्पादन की विभिन्न शाखाओं के बीच सामंजस्य पैदा करने, स्वावलंबन को बढ़ावा देने, अर्थव्यवस्था की कमजोर शाखाओं को संरक्षण व मदद देकर सामंजस्य स्थापित करने या साम्राज्यवादी–पूंजीपति वर्ग से दूर जाने और अन्य विकल्पों का विस्तार करने की नीतियों का समर्थक नहीं होता है जबकि इसके ठीक उल्टे राष्ट्रीय–पूंजीपति अथवा राष्ट्रीय–सुधारवादी पूंजीपति ऐसा ही चाहेगा।

दलाल–पूंजीपति, राष्ट्रीय–पूंजीपति एवं राष्ट्रीय–सुधारवादी पूंजीपति की चारित्रिक विशेषताएं और इनके बीच का अंतर बहुत साफ है लेकिन तब भी कुछ लोग नई परिभाषाएं गढ़कर भारतीय पूंजीपति वर्ग के चरित्र पर बहस को असमाधेय बना देते हैं। हमारे देश के कम्युनिस्ट क्रांतिकारी आंदोलन के भीतर ही मौजूद ऐसे विचारकों में से एक हैं सुनीति कुमार घोष। वे कहते हैं, *''साम्राज्यवादी–पूंजीपतियों और उनके दलाल–पूंजीपतियों के हित एक दूसरे से नत्थी हैं क्योंकि वे जनता को चूसने के साझे उपक्रम में लगे हुए हैं। किन्तु उसी वक्त इनके बीच अन्तरविरोध भी हैं, लूट के माल के बंटवारे का अंतरविरोध। दलाल–पूंजीपति, साम्राज्यवादी–पूंजीपति की सेवा इसलिए करता है क्योंकि वह अपनी सेवा करना चाहता है । बहुत सहज है कि वह अपने फायदे की शर्तों की कोशिश करे और दबाव, रियायतें, समझौते तथा कुछ मामलों में एजेन्टगिरी की समाप्ति उसके धंधे का हिस्सा हैं किन्तु सामान्यतः ऐसे अन्तरविरोध दुश्मनाना नहीं होते हैं और साम्राज्यवादी इजारेदारियों*

पर पराश्रित्ता के चौखटे के भीतर हल हो जाते हैं।'' (Suniti Kumar Ghosh, 'The Indian Big Bourgeoisie', 2000, New Horizon Book Trust, Calcutta, pp-19 अनुवाद हमारा)

अब दलाल–पूंजीपति की उक्त परिभाषा में तो खांटी से खांटी और उग्र से उग्र राष्ट्रीय बुर्जुआ को भी समेटा जा सकता है। जिस वर्ग के बारे में माओ की राय है कि उसका अस्तित्व ही साम्राज्यवादियों पर निर्भर है, कि वह साम्राज्यवादियों के टुकड़ों पर पलता है उसे सुनीति कुमार घोष एजेन्टगिरी की समाप्ति की हद तक जाने वाले, रियायतें हासिल करने वाले,... बुर्जुआ में तबदील कर देते हैं। माओ की परिभाषाओं में ऐसे गुण दलाल–पूंजीपति में नहीं, राष्ट्रीय–पूंजीपतियों में पाये जाते हैं। जिस वर्ग को माओ साम्राज्यवाद की कठपुतली (stooge) बताते हैं उसमें सुनीति कुमार घोष इतना साहस भर देते हैं कि वह अपने स्वामी से संघर्ष कर सके और कभी–कभार तो संघर्ष को इस हद तक भी बढ़ा सके कि अन्तरविरोध अपवादस्वरूप दुश्मनाना हो उठें, यानि कि कठपुतली अपने मालिक पर सीधे गोली चलाने लगे। सुनीति कुमार घोष एक अन्य जगह लिखते हैं,

''साम्राज्यवादी देश के पूंजीपति और उसके दलाल के बीच का बंधन अविसर्जनीय नहीं हैः दलाल पूंजीपति, हिन्दू मिथकों की पतिव्रता पत्नी नहीं है। अगर उसके हित इस बात की मांग करें तो वह पुराने आका की जगह नया मालिक चुन सकता है।'' (वही,पृष्ठ–21)

जिस दलाल पूंजीपति को माओ उसके आका के प्रति पूर्णतः वफादार मानते हैं,जिसे वे पालतू कुत्ते की उपाधि से सुशोभित करते हैं उसे सुनीति कुमार घोष इतना व्यक्तित्व प्रदान कर देते हैं कि वह अपने आकाओं को भी जरूरत पड़ने पर बदलता रह सकता है। इस गड्ड–मड्ड पर हम इतना ही कहना चाहेंगे कि जिस दिन से पत्नी तलाक लेने की सोचने लगती है उसी दिन से वह पतिव्रता नहीं रह जाती। जब से दलाल–पूंजीपति अपने आका से पिंड छुड़ाने की कोशिश करने लगे तब से वह दलाल नहीं रह जाता, भले ही वह साम्राज्यवादी व्यवस्था का चौखटा ना लांघे। ऐसे वर्ग को जो जद्दोजहद भी कर रहा है और साम्राज्यवादी व्यवस्था में सांठ–गांठ भी करता है, संश्रयकारी (Collaborator) कहना उचित होगा।

यदि हम पुराने के विसर्जन और नये के अस्तित्व में आने को अलग–अलग नहीं चिन्हित करेंगे तो हम ऐतिहासिक प्रकियाओं को कभी समझ नहीं पायेंगे।

साम्राज्यवाद के उपनिवेशवादी दौर में भारतीय पूंजीपति वर्ग

यूरोप में पूंजीवाद, छोटे पैमाने के माल उत्पादन (दस्तकारी) से होकर, मैन्युफैक्चरिंग के दौर से गुजर कर उद्योग तक पंहुचा। इसे पूंजीवाद के विकास की सहज यात्रा माना जाता है। लेकिन भारत में मैन्युफैक्चरिंग से उद्योग तक का संक्रमण नहीं हो पाया। मुगलकालीन भारत में, यानि कि सामंती भारत में, मैन्युफैक्चरिंग का जितना विकास हुआ था उसे अंग्रेजों ने तहस–नहस कर दिया। उपनिवेशवादियों ने मैन्युफैक्चरिंग के आर्थिक ढांचे के साथ–साथ उसमें प्रयोग होने वाली देशी तकनीक को भी नेस्तनाबूत किया। एक लम्बे समय बाद 1850 के आस–पास उपनिवेशवादी तकनीक पर आधारित फैक्ट्रियां यहां लगायी जाने लगी । पहली फैक्ट्रियां अंग्रेजों ने लगायीं। उनकी देखा–देखी भारतीय पूंजीपति भी उद्योग में हाथ डालने लगे। जिन भारतीयों ने उद्योग में पूंजी लगायी वे मूलतः अंग्रेजों के काल में पैदा हुए आढ़तिये व सूदखोर थे। इसके अलावा पुराने राजाओं/शहजादों/नवाबों ने भी औद्योगिकरण के लिए पूंजी उपलब्ध करायी। कुल मिलाकर कहा जाय तो उस जमाने के अंग्रेज–परस्त परोपजीवी वर्गों के लोग ही भारत के औद्यौगिक पूंजीपति बने।

यह स्थिति यूरोप से इस मायने मे भिन्न है कि वहां का औद्योगीकरण वहां की देशी तकनीक पर आधारित था और उसमें दस्तकारी से मैन्युफक्चरिंग, और मैन्युफैक्चरिंग से उद्योग तक के सफर में 'बर्गर' की अहम् भूमिका थी। इसलिए यूरोप के पूंजीपति में जितनी संघर्षशीलता दिखाई देती है उतनी संघर्षशीलता भी भारतीय पूंजीपति वर्ग में नहीं है। वैसे पूंजीपति वर्ग एक परोपजीवी वर्ग है और वह बहुत क्रांतिकारी नहीं होता है, (इस मामले पर हम 'लाल सलाम' के अंक–2 के एक अन्य लेख में टिप्पणी कर चुके हैं) लेकिन तब भी यूरोप के कुछ देशों में पूंजीपति वर्ग ने 17 वीं, 18 वीं, 19 वीं सदी की क्रांतियों में

हिस्सेदारी की जबकि भारतीय पूंजीपति वर्ग के किसी भी हिस्से ने किसी भी क्रांतिकारी संघर्ष या संगठन में हिस्सेदारी नहीं की। भारत का पूंजीपति वर्ग उग्र संघर्षों से दूर रहने वाला एक क्रांति विरोधी वर्ग है। यह एक डरपोक वर्ग है।

लेकिन डरपोक से डरपोक पूंजीपति भी खुदगर्ज होता है और अपने विकास के मामले में मौकापरस्त होता है। अनुकूल परिस्थितियों का फायदा उठाकर वह आगे बढ़ता है और फिर परिस्थितियों के और अनुकूल होने का इंतजार करता है। भारतीय पूंजीपति भी ऐसा ही था। उसके लिए अनुकूल परिस्थितियां प्रस्तुत हुई, भारतीय जनता के साम्राज्यवाद–विरोधी राष्ट्रीय आंदोलन में और प्रथम विश्व युद्ध के रूप में। 20 वीं सदी के इस नये माहौल में इस वर्ग का रूपान्तरण हुआ, अंग्रेजों के वफादार दलाल से यह राष्ट्रीय–सुधारवादी पूंजीपति वर्ग में बदला। इस दौरान अपने घरेलू बाजार और अपने राष्ट्र–राज्य के इसके सपने पैदा हुए। इन सपनों का विकास 1928 के 'नेहरू–प्लान'से 1942 के 'भारत छोड़ो आंदोलन' तक के सफर में देखा जा सकता है।

एक ओर क्रांति से भय और उसकी मुखालफत, और दूसरी ओर राष्ट्रवाद, इस दोहरे चरित्र को कौमिंटर्न ने बखूबी पढ़ा। उसकी चौथी कांग्रेस (1922 में) ने 'पूर्व के प्रश्न' (Eastern Question) पर जो प्रस्ताव पारित किया,उसके 'कृषि सवाल'में लिखा हैः

''ज्यादातर देशों में (भारत, फारस, मिस्र, मैसोपोटामियां में), महाशक्तियों की निरंकुशता से मुक्ति के संघर्ष में कृषि सवाल प्राथमिक महत्व का है।...चूंकि, न्यूनतम पूंजी निवेश करके साम्राज्यवाद अधिक से अधिक मुनाफा बटोरना चाहता है इसलिए पिछड़े देशों में वह जब तक संभव हो श्रम–शक्ति के शोषण के सामंती–सूदखोर रूपों को बनाये रखता है। कुछ मामलों में, मसलन भारत, वह भूमि पर देशी सामंतों व राजाओं के एकाधिकार को समाप्त करता है। और भू–लगान को महाशक्ति पूंजी एवं उसके नौकरों–– जमींदार एवं ताल्लुकेदार– के खिराज (tribute) में परिवर्तित करता है। अन्य जगह पर मसलन फारस, मोरक्को, मिस्र इत्यादि में वह बड़े भूस्वामियों के देशी संगठनों के मार्फत अपने भू–लगान को सुनिश्चित करता है। अतः भूमि को सामंती शुल्कों और पाबंदियों से मुक्त कराने का संघर्ष साम्राज्यवाद और बड़े सामंती–भूस्वामियों के खिलाफ राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष का रूप अख्तियार करता है। इसके उदाहरण हमें भारत में, अंग्रेजों और सामंती भूस्वामियों के खिलाफ 1921 के मोपला विद्रोह और 1922 के सिख विद्रोह में मिलते हैं।

''केवल कृषि क्रांति ही जिसका लक्ष्य है बड़ी भू–जोतों का सम्पत्तिहरण, विशाल किसान समुदाय को गतिमान कर सकती हैः इसका साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष पर निर्णायक प्रभाव पड़ेगा। बुर्जुआ–राष्ट्रवादी (भारत, फारस और मिस्र में) कृषि क्रांति के नारों से घबराते हैं और इन्हें दबाने की कशमकश में हमें देशी पूंजीपतियों, सामंतों व सामंती–पूंजीवादी भूस्वामियों के बीच करीबी रिश्तों की झलक मिलती है, और बाद वालों पर पहले वाले की बौद्धिक एवं राजनीतिक निर्भरता की भी झलक मिलती है। सभी क्रांतिकारी शक्तियों को इस ढुलमुलपन और हिचकिचाहट का इस्तेमाल राष्ट्रीय आंदोलन में पूंजीपति नेताओं की भीरूता को बेनकाब करने एवं उनकी आलोचना करने में करना चाहिए। भारत में असहयोग आंदोलन के रणकौशल का दिवालियापन बहुत साफ तौर पर दिखाता है कि उक्त भीरूता मेहनतकश जनता को गोलबन्द करने एवं संगठित करने में कितनी बड़ी बाधा है।'' (Documents: The Communist International 1919-1943, Ed. Jane Degras , Vol-1, pp:388-389, अनुवाद हमारा)

कोमिंर्टन के तमाम अन्य दस्तावेजों व प्रस्तावों में भारतीय पूंजीपति वर्ग के चरित्र के इस दोहरेपन, क्रांति से डर व उसकी मुखालफत और दूसरी ओर राष्ट्रीय–आंदोलन में दिलचस्पी व उसका नेतृत्व करने की कोशिशों, का चित्रण हमें मिलता है। कहीं पर भी हमें भारतीय पूंजीपतियों के किसी भी क्रांतिकारी धड़े की मौजूदगी के हवाले नहीं मिलते। 1928 में कौमिंर्टन की छठी कांग्रेस ने भारत के लिए अपनी विशिष्ट हिदायतों में स्पष्टतः कहा है, *''कम्युनिस्टों को भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के राष्ट्रीय–सुधारवाद को बेनकाब करना चाहिए और स्वराजवादियों, गांधीवादियों इत्यादि की सत्याग्रह की लफ्फाजी का विरोध, साम्राज्यवाद की बेदखली व देश की मुक्ति के संघर्ष के नारे के साथ करना चाहिए।''* ('Revolutionary Movement in Colonies & Semi-colonies', Documents of the Communist Movement in India, National Book Agency, Calcutta, Vol-1, pp: 961 अनुवाद हमारा)

यहां लाइन एकदम स्पष्ट है, 'गांधीवादी'; 'स्वराजवादी'; 'भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस' राष्ट्रीय–सुधारवादी हैं। इस राष्ट्रीय–सुधारवाद को बेनकाब करने की जरूरत है क्योंकि ये लोग राष्ट्रीय–आंदोलन में साम्राज्यवाद की बेदखली व देश की पूर्ण मुक्ति तक नहीं जायेंगे। इस पूरी थीसिस में भारतीय पूंजीपतियों के किसी भी धड़े से क्रांतिकारी संश्रय स्थापित करने की कोई हिदायतें नहीं हैं। वैसे भारत के राष्ट्रीय आंदोलन में 'भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस' की राष्ट्रीय–सुधारवादी प्रवृत्ति के समानांतर हमें राष्ट्रीय–क्रांतिकारी प्रवृत्ति का हवाला मिलता है। राष्ट्रीय–क्रांतिकारी प्रवृत्ति को निम्न–पूंजीपति वर्ग (petti-

bourgeoisie) की प्रवृत्ति के बतौर चिन्हित किया गया और इस प्रवृत्ति के नुमाइंदा संगठन के बतौर रिपब्लिकन पार्टी का हवाला भी दिया गया।

राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान भारतीय पूंजीपति, साम्राज्यवादियों के साथ तो रिश्ते कायम करते थे, उसके लिए कौमिंटर्न 'संश्रय' (Collaboration) शब्द इस्तेमाल करता है। दलाल (Compradore) या गुर्गे (Agent) तथा संश्रयकारी (Collaborator) में काफी अंतर है। संश्रय, साझेदारी (Partnership) के अर्थों में इस्तेमाल होता है। दलाल में जहां पराश्रितता अन्तरनिहित है,वहीं संश्रय (Collaboration) में खुदमुखतारी अंतरनिहित है। अपने साम्राज्यवादी आका के बिना दलाल या गुर्गे का अस्तित्व संभव नहीं है, लेकिन साझेदारी के टूटने पर पूंजीपति के बतौर संश्रयकारी का वजूद कायम रहता है। दलाल अपने आका से सौदेबाजी नहीं करता, जबकि संश्रयकारी अपने भावी वरिष्ठ साझेदार से संश्रय कायम करते वक्त सौदेबाजी करता है। जरूरत पड़ने पर संश्रयकारी–पूंजीपति अपने साझेदार बदल सकता है, अथवा साझेदारी को समाप्त कर सकता है। संश्रयकारी–पूंजीपति का चरित्र दलाल–पूंजीपति से काफी भिन्न है, संश्रयकारी पूंजीपति साम्राज्यवाद का विरोध कर सकता है जबकि दलाल–पूंजीपति अपने साम्राज्यवादी आका का विरोध नहीं कर सकता है।

कोमिंटर्न की ही तरह उस जमाने का भारतीय कम्युनिस्ट आंदोलन भी साम्राज्यवाद और भारतीय पूंजीपति वर्ग के बीच उभरते हुए नये रिश्ते को इसी नजर से देखता एवं व्याख्यायित करता है। 1928 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के गोहाटी सत्र को भारत की कम्युनिस्ट पार्टी ने अपना घोषणा–पत्र भेजा। उसमे वह कहती है,

''कोई विदेशी शक्ति किसी देश पर बहुत लम्बे समय तक राज नहीं कर सकती यदि उसे घरेलू तत्वों का समर्थन न हो। विश्व–युद्ध के समय तक भारत में ब्रिटिश सरकार को दो सामाजिक शक्तियों का समर्थन प्राप्त था। ये थी भूस्वामी वर्ग और किसान। ये दोनों मिलकर आबादी का बहुलांश बनते हैं। इसलिए साम्राज्यवाद के पास पक्का सामाजिक आधार था। परन्तु ये दोनों सामाजिक शक्तियां साम्राज्यवाद का समर्थन एक ही तरह से नहीं करती थीं। भूस्वामी वर्ग उसे सचेत सकारात्मक समर्थन देता था, जबकि किसान उसे अपनी निष्क्रिय वफादारी के चलते अचेत समर्थन देते थे। परन्तु युद्ध के बाद स्थिति में परिवर्तन आ गया है। किसानों की निष्क्रिय वफादारी हिल चुकी है। उसकी जगह पनपती हुई बगावत की अवस्था ने ले ली है जो कि समय–समय पर भड़क उठती है। परिणामस्वरूप साम्राज्यवाद का आधार अब गम्भीर रूप से हिल चुका है। उसे मजबूती प्रदान करने के लिए एक नये सहयोगी की जरूरत है।

''वह नया सहयोगी है राष्ट्रीय (देशी के अर्थों में–अनु.) बुर्जुआ (बैंकों के मालिक, व्यापारी, उद्योगपति, इन वर्गों से जुड़े हुए पेशेवर लोग और उच्च अधिकारी)। युद्ध के बाद के वर्षों में राष्ट्रीय–आंदोलन क्रांति की ओर अग्रसर था। उसकी संभावनाओं से राष्ट्रीय (देशी के अर्थों में–अनु.) पूंजीपति कांप उठे। उन्होंने सुरक्षित रास्ता चुना, और भारतीय जनता के शोषण में साम्राज्यवाद का कनिष्ठ साझेदार (Junior Partner) बनना स्वीकार किया।

''पूंजीपति वर्ग के इस पलायन ने राष्ट्रीय आन्दोलन पर अपनी छाप छोड़ी है....।'' (Documents of the Communist Movement in India, National Book Agency, Calcutta, Vol-1 , pp: 334–336, अनुवाद हमारा)

गोहाटी सत्र को भेजे गये घोषणा–पत्र में चार बातें बहुत साफ हैं। घोषणा–पत्र के लेखकों की नजर में,

(1) युद्ध से पहले तक भारतीय पूंजीपति साम्राज्यवाद के मूल सामाजिक आधारों में नहीं है, जो कि दलाल की विशेषता होती है।

(2) भारतीय पूंजीपति राष्ट्रीय – आंदोलन में हिस्सेदारी करता रहा है और उसके पलायन से राष्ट्रीय आन्दोलन कमजोर हो रहा है।

(3) भारतीय पूंजीपति क्रांति से डरता है।

(4) भारतीय पूंजीपति साम्राज्यवाद के साथ नये रिश्ते में बंध रहा है, वह साम्राज्यवाद का कनिष्ठ साझेदार बन रहा है।

भारतीय पूंजीपतियों के राष्ट्रीय सुधारवाद को समझने के लिए आइये 1928 की कुछ और घटनाओं पर विचार किया जाये। 1928 में साइमन कमिशन भारत आया। भारतीय पूंजीपतियों की पार्टी भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने साइमन कमिशन का बहिष्कार किया। उस वक्त भारत के पूंजीपतियों ने अपने पक्ष को सूत्रबद्ध करते हुए एक रिपार्ट तैयार की जिसे नेहरू रिपार्ट के नाम से जाना जाता है (तेज बहादुर सप्रू और मोती लाल नेहरू ने उसे मूलतः लिखा था)। इसे 1928 में सर्व–पार्टी कान्फ्रेंस ने अनुमोदित किया। इस दस्तावेज की अहमियत यह है कि इसमें पहली बार भारतीय पूंजीपति वर्ग अपनी ओर से

खुलासा करता है कि वह संवैधानिक धरातल पर अंग्रेज साम्राज्यवादियों से कैसे रिश्ते चाहता है। इस रिपोर्ट की मूल मांगें हैं; (1) सार्विक मताधिकार के आधार पर भारतीय संसद का गठन जिसके पास वित्त, कर, सीमा–कर, आदि सभी आंतरिक मामले होंगे। (2) व्यक्ति को बुर्जुआ जनवादी किस्म के अधिकार जिनमें निजी सम्पत्ति की सुरक्षा की गारंटी हो और साथ ही साथ ट्रेड–यूनियनें गठित करने के सीमित अधिकार भी शामिल हों।

इसके बदले में रिपोर्ट निम्न रियायतें देती हैः (1) अन्य डोमिनियनों की तर्ज पर विदेश मामलों का संचालन (2) ब्रिटिश राजशाही के हाथ में नाममात्र के कार्यकारी अधिकार जिन्हें गर्वनर–जनरल एवं गवर्नरों के ढांचे द्वारा संचालित किया जायेगा। (3) अंग्रेजों के वित्तीय,व्यापारिक एवं औद्योगिक हितों के प्रति कोई भेदभाव न हो। (4) शस्त्र–बल एक कमेटी के नियंत्रण में रहेंगे जो कि भारतीय मंत्रियों एवं ब्रिटिश अफसरों द्वारा गठित होगी। (5) प्रशासनिक एवं अन्य अफसरों के वेतन की गारंटी (6) विभिन्न रजवाड़ों व प्रान्तों की वर्तमान स्थिति बरकरार रखी जायेगी। नेहरू रिपोर्ट अंग्रेजों की सरपरस्ती में डोमिनियन स्टेटस् की मांग थी। उन दिनों भारतीय पूंजीपति वर्ग इतने ही सुधार चाहता था। हम पाते हैं कि दो दशक के भीतर ही, और अनुकूल परिस्थितियां पैदा होने पर इस वर्ग ने अपनी मांगें बढ़ा दीं व रियायतें घटा दीं। यानि कि मौका मिलते ही इसने अपना राष्ट्रवाद बढ़ा दिया। 1947 में भारतीय पूंजीपति वर्ग 1928 की नेहरू रिपार्ट से कहीं ज्यादा पाने में सफल रहा।

यहां एक महत्वपूर्ण सवाल यह है कि अंग्रेजों को ऐसी क्या जरूरत आ पड़ी थी कि वे भारत का औद्योगिक विकास होने दें, भारतीय पूंजीपति वर्ग का विकास होने दें।

सर्वप्रथम राष्ट्रीय आंदोलन जिसमें किसान भागीदारी करने लगे थे। इसका जिक्र हम ऊपर कर चुके हैं।

द्वितीय, प्रथम विश्व युद्ध। विश्व युद्ध ने युद्ध काल के दौरान फौजी सामाग्री की मांग पैदा की जिसकी पूर्ति ब्रिटेन में लगी फैक्ट्रियों से ही नहीं की जा सकती थी। युद्ध सामाग्री की आपूर्ति की जरूरत ने भारतीय उद्योग को खूब फूलने–फलने का मौका दिया। युद्ध की समाप्ति पर ब्रिटिश साम्राज्यवादियों के लिये यह साफ हो गया कि यदि स्वेज नहर से पूर्व में उनके पास कोई औद्योगिक गढ़ नहीं रहेगा तो हिन्द महासागर के इलाके में उनकी फौजें खड़ी की खड़ी रह जायेंगी। (युद्ध के माहौल में सुदूर ब्रिटेन से सामग्री पहुंचाने में खतरे और नुकसान बहुत थे)। अतः इस्पात उत्पादन, जूट एवं सूती कपड़ा मिलें और यहां तक कि विमान निर्माण (हिन्दुस्तान एयरक्राफ्ट कम्पनी) को अंग्रेज सरकार ने बढ़ावा दिया।

तीसरा, इंग्लैण्ड में ब्रिटिश पूंजीपति वर्ग की संरचना में आया अंतर। इस दौरान लंकाशायर के पूंजीपतियों का दबदबा घटा (ये भारत को लंकाशायर में बने कपड़ों के निर्यात के लिए सुरक्षित रखना चाहते थे, या दूसरे शब्दों में एक उद्योग रहित भारत चाहते थे) और पूंजीपतियों के दूसरे धड़े हावी हुए जो कि पूंजीगत सामानों का निर्माण करते थे। भारत को अपनी सामाग्री निर्यात करके वे आगे बढ़ना चाहते थे। इस धड़े के लिए 'एक उद्योग रहित, ठहरी हुई किसान अर्थव्यवस्था' बिल्कुल बेकार की चीज थी। दो विश्व युद्धों के बीच के काल में भारत के सीमित औद्योगिक विकास और भारतीय पूंजीपति वर्ग के विकास के पीछे ये प्रमुख कारण थे ।

भारतीय पूंजीपति वर्ग के चरित्र को एक अन्य कोण से भी समझा जाये। भारतीय जनता की राष्ट्रीय आकांक्षाओं की दृष्टि से भारतीय पूंजीपति वर्ग के रिश्तों, पर नजर डालते हुए। इसमें कोई दो राय नहीं कि राष्ट्रीय आंदोलन में भारतीय पूंजीपति वर्ग की दिलचस्पी थी। अंग्रेज पीछे हटें, भारतीय पूंजीपतियों को रियायतें दें और आगे बढ़ने के मौके दें, यह भारतीय पूंजीपतियों के हित में था। राष्ट्रीय आंदोलन इस महत्वाकांक्षा की पूर्ति में बहुत मददगार था। इसीलिए राष्ट्रीय आंदोलन की अगुवाई करने वाली पार्टी, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को इन्होंने अपनाया । कांग्रेस पार्टी और उसका नेता गांधी उनके वर्ग हितों का बेहतरीन नुमाइंदा था। उस 'महात्मा' ने राष्ट्रीय संघर्ष के लिए जो नुस्खा दिया, अहिंसक संघर्ष, वह इनकी क्रांति–विरोधी राष्ट्रवादी आकांक्षाओं से पूर्णतः मेल खाता था। गांधी ने बड़ी दक्षता के साथ राष्ट्रीय आंदोलन का नेतृत्व किया, उसमें क्रमशः अंग्रेजों को पीछे धकेला गया लेकिन कभी भी आंदोलन को क्रांतिकारी तेवर नहीं अपनाने दिये गये। जनता जब अंग्रेजों से हथियारबंद संघर्ष करने लगती, महात्मा जी आन्दोलन को वापस ले लेते और उपवास पर बैठ जाते।

उक्त राजनीतिक व्यवहार ब्रिटिश साम्राज्यवाद के एक दलाल का नहीं हो सकता है। एक दलाल के लिए संभव नहीं कि वह अपने आका की मुखालफत करे, उसके खिलाफ लोगों को गोलबंद करे और आंदोलन करे। ऐसी बातें किसी टुकड़खोर या पालतू कुत्ते के बस की नहीं है। दूसरी ओर यह चरित्र एक राष्ट्रवादी बुर्जुआ जो कि क्रांति के प्रति ढुलमुल है, का भी नहीं है। यहां भारतीय बुर्जुआ तटस्थ या क्रांति का ढुलमुल संश्रयकारी कतई नहीं है। राष्ट्रीय आन्दोलन का तापमान जब भी क्रांतिकारी संघर्ष के ज्वलनांक तक पहुंचता है वह बहुत सचेत होकर उस पर ठंडे पानी के छींटे मारता है और उसे गैर क्रांतिकारी विरोध की हदों के भीतर रखता है। दलाल–राष्ट्रीय सूत्रीकरण के किसी भी पक्ष से भारतीय बुर्जुआ का

राजनीतिक व्यवहार स्पष्ट नहीं होता है। इसे उसी सूत्र से व्याख्यायित किया जा सकता है जिसे कौमिंटर्न और तत्कालीन भारतीय कम्युनिस्ट आंदोलन इस्तेमाल करता था,राष्ट्रीय–सुधारवादी बुर्जुआ।

1947 से 1991 के बीच का दौर

जब द्वितीय विश्व युद्ध अपनी समाप्ति की ओर था तब भारतीय पूंजीपति वर्ग की महत्वाकांक्षाएं काफी ऊपर उठी हुई थीं। वह साम्राज्यवादी व्यवस्था की सीमाओं के भीतर अपने लिए पहले से कहीं ज्यादा आजादी की मांग कर रहा था। उसके लिए '20 के दशक की डोमिनियन स्टेटस् की मांग अब काफी पुरानी और हल्की पड़ चुकी थी। वह अब अपने लिए एक संरक्षित घरेलू बाजार के सपने देखने लगा था। उसकी उम्मीदों के ऊपर उठने के कई कारण थे। तब तक ब्रिटिश साम्राज्यवाद कमजोर पड़ चुका था और उसके उपनिवेश उसके हाथों से निकल रहे थे, फ्रांस और हालैंड जैसी पुरानी उपनिवेशवादी शक्तियां धाराशाई हो चुकी थी, जापान की पराजय आसन्न थी, ब्रिटिश और अमरीकी साम्राज्यवाद के बीच का अंतरविरोध मौजूद ही था,साम्राज्यवाद का विरोधी समाजवाद और मजदूर आंदोलन मजबूत हो रहा था,उपनिवेशों और अर्ध–उपनिवेशों में राष्ट्र–मुक्ति संग्रामों की लहर आगे बढ़ रही थी और युद्ध के दौरान कमाये गये मुनाफे से भारतीय पूंजीपति वर्ग की जेबें भरी हुई थी। हर लिहाज से वह साम्राज्यवाद से, अपनी पुरानी मांगों की तुलना में, ज्यादा ऐंठने की स्थिति में था और उसने ऐसा ही किया।

1947 में सत्ता हस्तान्तरण हुआ। ब्रिटिश उपनिवेशवादियों के हाथ से सत्ता भारतीय पूंजीपतियों के हाथों में स्थानान्तरित हुई। यह प्रक्रिया 1950 तक चलती रही। इस दौरान भारतीय पूंजीपति वर्ग ने अंग्रेजों के पिट्ठू 563 राजाओं/रजवाड़ों की रियासतों (जो कि भारतीय भूमि के 2/5 वें हिस्से पर फैली हुई थी) को अपनी केन्द्रीयकृत सत्ता के अधीन किया। लगभग तीन वर्षों में पूरी हुई इस प्रक्रिया पर यदि हम गौर करें तो हमें भारतीय पूंजीपतियों के वर्ग चरित्र को समझने में मदद मिलती है। यहां दो बातें साफ हैं। एक यह कि 1947 से 1950 के दौरान सत्ता वाकई पुराने शासक वर्गों (ब्रिटिश उपनिवेशवादियों) हाथों से निकल कर क्रमशः एक नये वर्ग (देशी पूंजीपति वर्ग) के हाथों में गयी। वह पुराने वर्गों के हाथों में जस की तस बनी नहीं रही, हालांकि पुराने प्रभुत्वकारी वर्ग उस पर अपनी पकड़ बनाये रखने की कोशिशें लगातार करते रहे। दूसरी बात यह कि भारतीय पूंजीपतियों ने अंग्रेजों को निर्णायक शिकस्त देकर वियतनामियों की तरह सत्ता पर कब्जा नहीं किया। ब्रिटिश उपनिवेशवादियों और भारतीय पूंजीपतियों के बीच एक औपचारिक (एवं अनौपचारिक) अनुबंध (deal) के तहत यह सत्ता एक शोषक वर्ग से दूसरे शोषक वर्ग के हाथों में आ गई। नये शोषक वर्ग ने न केवल सत्ता अपने हाथों में औपचारिक तौर पर ली बल्कि ब्रिटिश गर्वनर–जनरल, ब्रिटिश अफसरों, निजाम, नवाबों,राजाओं...को क्रमशः उससे बाहर भी धकेला। अर्थात् '47–48 में जो चीज अवास्तविक और महज औपचारिक प्रतीत हो रही थी, उसे '50 के दशक की शुरूआत तक भारतीय पूंजीपति वर्ग ने वास्तविक राजनीतिक सत्ता में बदल डाला।

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद के माहौल में ब्रिटिश साम्राज्यवाद और भारतीय पूंजीवाद के रिश्तों में संश्रय हावी था। सी. पी.आई. की दूसरी कांग्रेस (1948) ने अपनी राजनीतिक थीसिस में इस पर टिप्पणी की है–

''अतः संश्रय (Collaboration) उस जनवादी–क्रांति के खिलाफ आर्थिक व राजनैतिक सहयोग का प्रतिनिधित्व करता है,जिसके जरिये ही लोग अपने आप को औपनिवेशिक जुए,भूस्वामित्व, राजाओं,विदेशी तथा देशी पूंजीपतियों से मुक्त कर सकते हैं। यह कृषि क्रांति के खिलाफ है,उद्योगों के राष्ट्रीयकरण के खिलाफ है, योजनाबद्धता के खिलाफ है,जीवित रहने योग्य वेतन के खिलाफ है,और उद्योगों के उस चौतरफा विस्तार के खिलाफ है जिसे राष्ट्रीयकरण के बदौलत हासिल किया जा सकता है। वर्तमान व्यवस्था को बचाये रखने के लिए यह एक ऐसी चाल है जिसमें पूंजीपति वर्ग साम्राज्यवाद के कनिष्ठ साझेदार की हैसियत से शिरकत कर रहा है।

'' साम्राज्यवाद को संश्रय की जरूरत;

''संश्रय की आवश्यकता दूसरे पक्ष को भी है। अन्यथा यह प्रश्न उठता है कि अगर पूंजीपति वर्ग की इतनी ही गरज है तो साम्राज्यवादी पुराने तरीके पर ही क्यों नहीं डटे रहते ,वे कनिष्ठ साझेदारी की पेशकश भी क्यों करते हैं?

''सर्वप्रथम,युद्ध ने भारत और ब्रिटेन के आर्थिक संबन्धों में बदलाव ला दिया है। स्टर्लिंग में कर्जों की वापसी से यह तय हो गया है कि अब ब्रिटेन भारत से बिना पैसा दिये सामान नहीं उठा सकता और भारतीय निर्यात पर उसका जो स्वतः नियंत्रण था, वह अब कमजोर पड़ा है, और इसके साथ ही साथ भारत को सामान निर्यात करने की उसकी क्षमता में गिरावट आई है। अतः भारत में नवीन पूंजी निवेश ब्रिटेन की जरूरत है ताकि भुगतान संतुलन अपनी पुरानी जगह पर लौटे और भारत का व्यापार ब्रिटेन की ओर हो। अतः यह साम्राज्यवाद के हित में है कि उसे नये पूंजी निवेश के अवसर मिलें,बशर्ते यह घरेलू जरूरतों के खिलाफ न हो।

''दूसरा, ब्रिटेन इस बात से डरा हुआ है कि अगर वह भारतीय पूंजीपतियों से मधुरता नहीं बनाये रखेगा, तब कहीं अमेरिकी उनसे सौदा न कर लें। अमरीका से मदद पाकर भारतीय बुर्जुआ उसका दूसरा प्रतिद्वंद्वी बन सकता है अतः रियायतें देनी जरूरी हैं और संश्रय कायम करना आवश्यक है।

''तीसरा, एक प्रतिद्वंद्वी के रूप में भारतीय पूंजी काफी शक्तिशाली है। अब वह पहले की तरह मरियल नहीं है। उसे राष्ट्रीय आंदोलन का शक्तिशाली समर्थन हासिल है जिसे वह, विशुद्ध ब्रिटिश उपक्रमों और रियायतों से पूर्ण इंकार की किसी भी योजना के खिलाफ इस्तेमाल कर सकता है। अब यह असंभव हो चुका है कि विशुद्ध ब्रिटिश उपक्रम स्थापित किये जायें और उन्हें राजकीय मदद दी जाय,अब वह स्थिति पैदा हो गई है जिसमें ब्रिटिश निवेशों और शोषण की योजनाओं पर रोक लगाई जा सके।'' (वही, पृष्ठ 590–591)

C.P.I. की दूसरी कांग्रेस, साम्राज्यवाद के सापेक्ष भारतीय पूंजीपति वर्ग की बढ़ती हुई ताकत को अपने संज्ञान में लेती है और इस बात को रेखांकित करती है कि दोनों वर्गों, साम्राज्यवादी एवं भारतीय पूंजीपति को एक दूसरे के सहयोग की क्यों जरूरत है,कि वे संश्रय या साझेदारी क्यों कायम कर रहे हें और यह साझेदारी किसके खिलाफ लक्षित है। यहां 'संश्रय'अथवा 'कनिष्ठ साझेदार' शब्दों का जो प्रयोग हुआ है वह मेल–मिलाप की प्रवृत्ति को उजागर करने के लिए किया गया है, राष्ट्रीय आंदोलन से पलायन कर साम्राज्यवादियों से सटने की प्रवृत्ति को अभिव्यक्त करने के लिए। वैसे तब ये शब्द ढीले–ढाले अर्थों में इस्तेमाल किये गये हैं।

दूसरी कांग्रेस के तुरन्त बाद, 1948 में ही सी.पी.आई. की आंध्र–प्रदेश कमेटी (जो कि उस समय तेलंगाना आंदोलन का नेतृत्व कर रही थी) ने एक पत्र जारी किया। यह दस्तावेज हमारे आंदोलन में 'आंध्र–पत्र' के नाम से जाना जाता है। यह पत्र उस जमाने में सी.पी.आई. में फैले विभ्रम और संशोधनवाद के खिलाफ संघर्ष है। यह पत्र 1948 में जनवादी–क्रांति से सम्बन्धित अनेक सवालों को हल करने का प्रयास करता है और चीनी क्रांति की तर्ज पर भारत के लिए नयी–जनवादी क्रांति का कार्यक्रम रखता है। उस जमाने के लिए इस पत्र में वर्ग विश्लेषण और कार्यक्रम मूलतः सही हैं। हम भी पत्र के लेखकों के इस सूत्रीकरण से सहमत हैं कि 1948 में भारत नव–जनवादी क्रांति की मंजिल में है और भूमि–प्रश्न क्रांति का केन्द्रीय सवाल है, कि तब धनी किसान को या तो क्रांति के पक्ष में खड़ा किया जा सकता था या फिर उसे तटस्थ बनाया जा सकता था, कि नेहरू सरकार बड़े संश्रयकारी पूंजीपतियों की सरकार है, इत्यादि। यहां हम पाठक का ध्यान इस तथ्य की ओर आकृष्ट करना चाहेंगे कि हालांकि 'आंध्र–पत्र' माओ की 1940 की रचना 'नव–जनवाद' से प्रेरित होकर लिखा गया है, और इसमें बड़े व मझोले बुर्जुआ के बीच अंतर भी किया गया है, परन्तु इसमें कहीं भी बड़े बुर्जुआ को दलाल नहीं कहा गया है और न ही मझोले बुर्जुआ के लिए ढुलमुल क्रांतिकारी शब्दावली का प्रयोग है। अर्थात् 'आंध्र–पत्र' भी भारतीय बड़े पूंजीपति वर्ग के चरित्र के बारे में वही अवस्थिति रखता है जो 1948 में सी.पी.आई. की दूसरी कांग्रेस ने ली थी अथवा जो सी.पी.आई. व कौमिंटर्न लेती रही थी। यह दस्तावेज भारत के बड़े बुर्जुआ को संश्रयकारी बताता है। इसका मूल सूत्रीकरण इस प्रकार हैः

*''**उद्देश्यः** साम्राज्यवाद–बड़े पूंजीपति–सामन्तों के गठबंधन को उखाड़ फेंकना और सामन्तवाद, मध्ययुगीनता एवं उपनिवेशवाद की हर छाप को साफ कर देना। **क्रांति की मुख्य शक्तिः** औद्योगिक व ग्रामीण मजदूर। **फौरी रिजर्वः** सामान्यतः सभी किसान, उन धनी किसानों को छोड़कर जो अपनी सामंती पूंछें नहीं झाड़ पाये हैं; और विशेष तौर पर गरीब व मझोले किसान नव–जनवादी क्रांति की इस मंजिल के फौरी रिजर्व हैं। **मूल आघात की दिशाः** संश्रयकारी पूंजीपति एवं उसके लगुओं–भगुओं के खिलाफ,जो कि किसानों को छल रहे हैं और उन्हें अपनी गिरफ्त में बनाये रखने का प्रयास करते हैं,.. .''* ('Comrade', issue no: 11-12, April-August 1999, अनुवाद हमारा)

यहां यह भी गौर करने की बात है कि इस सूत्रीकरण में न केवल पूंजीपति वर्ग को संश्रयकारी बताया गया है, न केवल धनी किसानों के एक हिस्से को क्रांतिकारी शक्तियों में गिना गया है,बल्कि इसमें मझोले पूंजीपतियों को क्रांति की शक्तियों में नहीं रखा गया है। इस पत्र के परिशिष्ट में जहां मझोले–पूंजीपतियों के प्रति अधिकतम नरमी बरती गई है वहां भी

इसे धनी किसानों के एक हिस्से की तरह, क्रांति का ढुलमुल संश्रयकारी नहीं माना गया है। मझोले पूंजीपति के किसी भी हिस्से की क्रांति में कोई भूमिका नहीं बताई गई है। परिशिष्ट भी इसे ज्यादा से ज्यादा तटस्थ करने की बात ही करता है।

'आंध्र–पत्र' का हवाला हमने इसलिए दिया क्योंकि भारत में अनेक कम्युनिस्ट क्रांतिकारी ऐसे हैं जो कि 1940 के दशक की सी.पी.आई. की विरासत को नहीं स्वीकारते हैं; वे उसे संशोधनवादी मानकर उसकी सारी बातों को रद्द करते हैं। ये साथी 'आंध्र–पत्र' से अपनी विरासत को जोड़ते हैं और इनका कहना है कि वे 'आंध्र–पत्र' की लाईन को आज भी (शब्द व भाव दोनों में) लागू कर रहे हैं, कि जो 'आंध्र–पत्र' की थीसिस को नहीं मानते वे कम्युनिस्ट क्रांतिकारी नहीं हैं। इन साथियों को यह समझने की जरूरत है कि उनकी वर्तमान लाईन 'आंध्र–पत्र' की थीसिस से मेल नहीं खाती, कि 'आंध्र–पत्र' की थीसिस में मझोले पूंजीपतियों को क्रांति के पक्ष में खड़ा करने की कोई गुंजाइश नहीं थी और न ही उसमें बड़े इजारेदार पूंजीपतियों के लिए 'दलाल' सूत्रीकरण इस्तेमाल किया गया है।

1949 में भारत सरकार के प्रधानमंत्री जवाहर लाल नेहरू तीन चीजों के लिए संयुक्त राज्य अमेरिका गये, खाद्य सामग्री; पूंजी और तकनीक। अमेरिकी पूंजीपतियों द्वारा आयोजित एक सभा में उन्होंने स्पष्टीकरण दिया कि *''भारत में निजी पूंजी का स्वागत है और विदेशों से आने वाली पूंजी से कोई भेद–भाव नहीं बरता जायेगा।''* इस बयान की अहमियत इस बात में है कि 1947 के पहले भारतीय पूंजी के खिलाफ भेद–भाव बरता जाता था और अब वह नई स्थिति पैदा हो गई थी जिसमें साम्राज्यवादी पूंजी को यह डर हो कि उसके खिलाफ अब भेद–भाव बरता जायेगा। साम्राज्यवादियों की आशंकाएं सही साबित हुई । 1973 आते–आते विदेशी मुद्रा नियमन अधिनियम (FERA) लागू कर दिया गया और विदेशी कम्पनियों पर यह पाबंदी लगा दी गयी कि कुछ चुनिंदा क्षेत्रों (उच्च तकनीक, चाय बागान या अन्य निर्यात इकाइयां) को छोड़कर बाकी सभी क्षेत्रों में विदेशी पूंजी निवेश को 40% की सीमा के भीतर रखा जायेगा। यह रूझान बहुत साफ है, जैसे–जैसे परिस्थितियां बेहतर होती गयीं भारतीय पूंजीपति वर्ग का 'राष्ट्रवाद' बढ़ता गया। शीत युद्ध की समाप्ति के साथ परिस्थितियां जैसे ही प्रतिकूल हुईं, 'राष्ट्रवाद' घट गया। भविष्य में परिस्थितियां जब भी बेहतर होंगी, इनका 'राष्ट्रवाद' पुनः जोर मारने लगेगा। भारतीय पूंजीपति वर्ग का राष्ट्रवाद अवसरवादी राष्ट्रवाद है।

1947 से लेकर अब तक, भारत में साम्राज्यवादी पूंजी की मौजूदगी लगातार बनी रही है। भारत साम्राज्यवाद की जकड़ से कभी भी पूर्णतः मुक्त नहीं हो पाया है। परन्तु भारत में साम्राज्यवादी पूंजी की मात्रा और प्रभाव, दोनों कम–ज्यादा होते रहे हैं (यदि विदेशी पूंजी की कुल मात्रा में कोई परिवर्तन न हो तब भी उसके स्रोतों की विविधता बढ़ा देने से उसकी नियंत्रण क्षमता घट जाती है)। '80 के दशक की शुरूआत तक भारत में साम्राज्यवाद का प्रभाव मूलतः घटा है। उसके बाद और विशेष तौर पर 1991 के बाद से यह बढ़ा है। जिस दौर में यह घटा उस पूरे दौर में भारतीय पूंजीपति वर्ग ने सचेत तौर पर ऐसी आर्थिक एवं राजनैतिक नीतियां अपनायी जिनकी वजह से यह हुआ। पराश्रितता को कम करने के लिए, स्वावलम्बन और अर्थव्यवस्था में आन्तरिक संतुलन पैदा करने के लिए इन्होंने आयात प्रतिस्थापन वाला औद्योगिकरण (import substituting industrialization) का नारा बुलन्द किया। इसके तहत आयात प्रतिस्थापन वाले उद्योगपतियों को विशेष छूटें दी गयीं। इसके समानांनतर घरेलू उद्योग को संरक्षण प्रदान करने के लिए ऊंचे सीमा कर एवं मात्रात्मक प्रतिबंध लगाये गये। चूंकि उन दिनों बचत दर काफी कम थी (1950 में 10% के इर्द–गिर्द) और पूंजी की किल्लत थी इसलिए छोटी इकाइयों को छोड़कर अन्य सभी इकाइयों के लिए पूर्व स्वीकृति (लाइसेंस) लेना बाध्यकारी किया गया ताकि संतुलित योजनाबद्ध विकास हो सके। कई चुनिंदा उद्योग सार्वजनिक क्षेत्र के लिए संरक्षित कर दिये गये। शैक्षिक, तकनीकी, एवं इंजीनियरिंग काबिलियत के विकास एवं 'विदेशी विशेषज्ञों' से मुक्ति पाने के लिए राष्ट्रीय व क्षेत्रीय प्रयोगशालायें स्थापित की गयीं और तकनीक एवं विज्ञान के विकास हेतु एक राष्ट्रव्यापी ढांचा खड़ा किया गया। भले ही इसके प्रारंभिक चरण में इसके लिये विदेशी मदद ही लेनी पड़ी। इन वर्षों में पहले सिंचाई साधनों का विकास करके और बाद में हरित क्रांति की बदौलत भारत ने अपना खाद्यान्न संकट भी हल किया, अर्थात 60 के दशक का अन्त होते–होते इस मामले में साम्राज्यवाद (विशेष कर अमेरिका) पर भारत ने अपनी पराश्रितता कम कर ली। 1968 तक विदेशी पूंजी निवेश को छूट दी गयी , देश के बाहर मुनाफा ले जाने पर पाबंदी नहीं लगायी गयी, इस छूट के बावजूद देश के सकल पूंजी निर्माण में विदेशी मशीनरी एवं सामग्री का हिस्सा 1950 के स्तर, 69% से घटकर 25% रह गया। 1968 से ऐसी पाबंदियां भी अस्तित्व में आईं, विदेशी पूंजी निवेश के साथ नयी तकनीक लाना (technology transfer) जरूरी हो गया। ऐसे अनेक संरक्षणवादी कदम उठाते हुए भारतीय पूंजीपतियों ने धीमे–धीमे सुधारों के जरिये यहां साम्राज्यवाद का प्रभाव कम किया और अपनी स्थिति सुदृढ़ की। राजनीतिक क्षेत्र में गुट निरपेक्ष आंदोलन, अंकटाड; (UNCTAD) में G–77 का गठन, ब्रिटेन से हटकर अमेरिका और फिर अमेरिका से हटकर रूस से करीबी..., ये सभी अपने स्रोतों/विकल्पों का विस्तार करने तथा साम्राज्यवादी जकड़ को ढीला करने के कदम हैं।

नवम्बर 1960 में 81 कम्युनिस्ट पार्टियों की मास्को बैठक के बाद से भूतपूर्व उपनिवेशों या अर्ध–उपनिवेशों (अथवा किसी अन्य प्रकार के पराश्रित देशों) के लिए 'राष्ट्रीय–जनवाद' (national- democracies) शब्दावली प्रयोग की जाने लगी। यह शब्दावली गलत है क्योंकि ये राजसत्ताएं दरअसल पूंजीपति वर्ग या निम्न पूंजीपति वर्ग (जिसने मौका मिलते ही अपने आप को नौकरशाह पूंजीपति बना लिया) की तानाशाहियां थीं। ये किसी भी मायने में पूर्वी यूरोप के लोक गणराज्यों (people's democracies) या चीनी लोक गणराज्यों के करीब की श्रेणियां नहीं हैं, जहां सर्वहारा के नेतृत्व में तानाशाहियां कायम हुई थीं। 'राष्ट्रीय–जनवाद' शब्दावली भारत या शेष तीसरी दुनिया के यथार्थ की सही अभिव्यक्ति नहीं हैं। दरअसल इस शब्दावली के प्रयोग से ऐतिहासिक प्रक्रिया के बारे में क्लासिकीय सूत्रीकरण पूंजीवाद–समाजवाद–साम्यवाद, तीसरी दुनिया के देशों के लिए बदलकर साम्राज्यवाद(पूंजीवाद)–राष्ट्रीय जनवाद–समाजवाद–साम्यवाद हो जाता है। 'राष्ट्रीय–जनवाद' का सिद्धान्त दरअसल विकास का 'गैर–पूंजीवादी रास्ता' और 'शांतिपूर्ण संक्रमण' के उन सिद्धान्तों के लिए रास्ता खोलता है जिन्हें खुश्चेव स्थापित करना चाहता था और जिन्हें माओ एवं सी.पी.सी. ने खण्डित किया था। विकास का गैर–पूंजीवादी रास्ता तीसरी दुनिया का यथार्थ नहीं है। तीसरी दुनिया में प्रत्यक्ष उपनिवेशवाद की समाप्ति के बाद अप्रत्यक्ष उपनिवेशवाद की स्थितियां (नव उपनिवेशवाद, आर्थिक नव उपनिवेशवाद व अन्य) कायम हैं, यहां पूंजीपति वर्ग या निम्न पूंजीपति वर्ग (जो कि बहुत कम समय में नौकरशाह पूंजीपति वर्ग में तबदील हो गया) की सत्ताएं कायम हुईं, अतः जो भी विकास हुआ उसमें पूंजीवादी शोषण को बढ़ावा ही मिला चाहे वह साम्राज्यवाद के प्रभाव को हल्का करने वाली कितनी ही अच्छी राष्ट्रीय–संरक्षणवादी नीतियों के तहत क्यों न हुआ हो। अतः नेहरू या इंदिरा का 'समाजवाद' कहीं से भी भारत का गैर–पूंजीवादी विकास नहीं है, यह बुर्जुआ राजसत्ता को इस्तेमाल करते हुए योजनाबद्ध पूंजीवादी विकास है।

भारत के बड़े पूंजीपतियों को दलाल–पूंजीपतियों की श्रेणी में रखने की शुरूआत मूलतः 1967 से मानी जा सकती है। 5 जुलाई 1967 के दिन चीनी कम्युनिस्ट पार्टी की केंद्रीय कमेटी के मुख–पत्र 'पीपुल्स डेली' का सम्पादकीय वह पहला अहम् दस्तावेज बनता है जिसमें भारत के बड़े पूंजीपतियों को दलाल बताया गया है। इस लेख के बाद हमारे देश के कम्युनिस्ट क्रांतिकारी आंदोलन के साहित्य में दलाल–पूंजीपति शब्दावली का प्रयोग आम बात हो गयी। आम बात ही नहीं इसे उसूल का दर्जा मिल गया और जिसे भी उक्त सम्पादकीय के सूत्रीकरण से आपत्ति होती उसे बिरादरी से बाहर करार दिया जाने लगा। सूत्रीकरण इस प्रकार है, *''...कांग्रेस सरकार के अधीन भारत नाम–मात्र का स्वाधीन है ; दरअसल यह एक अर्ध–औपनिवेशिक, अर्ध–सामन्ती देश से ज्यादा कुछ नहीं है। कांग्रेस प्रशासन भारत के सामन्ती शहजादों, बड़े भूस्वामियों और नौकरशाह दलाल–पूंजीपतियों के हितों का प्रतिनिधित्व करता है। आन्तरिक तौर पर यह भारतीय जनता का बेरहम उत्पीड़न करता है और उसका खून चूसता है जबकि अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर यह अपने पुराने अधिराज ब्रिटिश साम्राज्यवाद के साथ–साथ नये उस्ताद अमरीकी साम्राज्यवाद और उसके पहले सहयोगी सोवियत संशोधनवादी शासक गुट की सेवा करता है, अतः बड़े पैमाने पर भारत के राष्ट्रीय हितों को बेचता है। भारत के लोगों, विशेषकर मेहनतकश लोगों, मजदूरों व किसानों, की पीठ पर साम्राज्यवाद, सोवियत संशोधनवाद, सामन्तवाद और नौकरशाह–दलाल पूंजीवाद जैसे बड़े पहाड़ों का बोझ है।''* ('The Historic Turning Point ', A Liberation Anthology,1992 संस्करण, खण्ड–1 ,पृष्ठ–229 अनुवाद हमारा)

सूत्रीकरण बहुत साफ है। इसे गलत या सही करार दिया जा सकता है,परन्तु यह गलतफहमी की कोई गुंजाईश नहीं छोड़ता। भारतीय बुर्जुआ के चरित्र बारे में यह सूत्रीकरण न तो कौमिंर्टन के सूत्रीकरण से मेल खाता है, न C.P.I. (जब तक वह संशोधनवादी नहीं हुई थी–1951 तक) के सूत्रीकरण से और न ही यह भारतीय पूंजीपति के सुधारवादी–राष्ट्रवादी व्यवहार से मेल खाता है (आखिर C.P.C. के एक औपचारिक निर्णय के तहत ही तो चीन ने भारत, इंडोनेशिया, मिस्र को साथ लेकर 1955 में बांदुंग सम्मेलन में एक साम्राज्यवाद विरोधी गोलबंदी की ओर कदम उठाये थे)। हमारा यह भी मानना है कि यह माओ–त्से–तुंड. का लेखन नहीं है। अगर यह माओ का लेखन होता तब इसमें 'माओ–त्से–तुंड. का रास्ता','चेयरमैन माओ', 'हमारे महान नेता चेयरमैन माओ' जैसे वाक्यांशों का प्रयोग नहीं होता। लेकिन तब भी इस बात की संभावना है कि माओ 1967 में उक्त सूत्रीकरण से सहमत हों। अगर ऐसा है तो यह उस श्रेणी की गलतियों में आती है जिस तरह की चीनी समाज ओर चीनी क्रांति का आकलन करते हुए स्तालिन से हुई, जिसके बारे में माओ का कहना है *''..चीन की कम्युनिस्ट पार्टी में समय–समय पर उभरने वाली गलत,'वाम' और दक्षिण अवसरवादी कार्यदिशाओं में से कुछ, जहां तक उनके अंतर्राष्ट्रीय स्रोतों का सम्बन्ध है, स्तालिन की कुछ गलतियों के प्रभाव में ही उत्पन्न हुई थीं । बीस के दशक के अन्त में,तीस के दशक में तथा चालीस के दशक की शुरूआत और मध्य में चीनी मार्क्सवादियों–लेनिनवादियों ने कामरेड माओ–त्से–तुंग और कामरेड ल्यू शाओ ची के प्रतिनिधित्व में स्तालिन की गलतियों के प्रभाव का प्रतिरोध किया: 'वाम' और दक्षिण अवसरवाद की गलत कार्यदिशाओं को धीरे–धीरे उन्होंने पराजित किया और अंततोगत्वा अपने मार्गदर्शन में चीनी क्रांति को विजय दिलायी।*

''लेकिन स्तालिन द्वारा प्रतिपादित गलत धारणाओं में से कुछ चूंकि किन्हीं चीनी कामरेडों द्वारा स्वीकार की गई और व्यवहार में लाई गयीं, ***हम चीनियों को ही इसका उत्तरदायित्व स्वीकारना चाहिये****। इसलिए,'वाम' और दक्षिण अवसरवाद*

के विरूद्ध अपने संघर्ष में हमारी पार्टी ने केवल अपने ही उन कामरेडों की आलोचना की जो गलती पर थे और इसका दोष स्तालिन पर कभी नहीं डाला।'' (महान बहस, 'स्तालिन के बारे में', अन्तर्राष्ट्रीय प्रकाशन 1998. पृष्ठ–94, शब्दों पर जोर हमारा)

ऐसे ही हमें भी अन्धानुकरण करने के बजाय अपना स्वतंत्र विश्लेषण भी करना चाहिये और इस बात की गुंजाईश छोड़नी चाहिये कि अनुभवी से अनुभवी नेता से भी आकलन की गलती हो सकती है। ऐसी गलतियां हो जाया करती हैं क्योंकि बाहर से किसी समाज का विश्लेषण करना काफी मुश्किल काम होता है। जिस पार्टी को जिस देश में क्रांति करनी होती है उसे ऐसे मूल्यांकनों को अपना प्रस्थान बिंदु नहीं बनाना चाहिए। उसे अपने इतिहास का स्वयं अध्ययन करना चाहिये, अपने देश की परिस्थितियों का स्वयं जायजा लेना चाहिये और द्वन्द्वात्मक–भौतिकवादी विश्लेषण के आधार पर अपनी क्रांति का कार्यक्रम तय करना चाहिये। हमारे यहां समस्या यह है कि जब से 'पीपुल्स डेली' का सूत्रीकरण आया है तब से आज तक, 35 वर्ष बाद भी साथी लोग अन्य सभी सूत्रीकरणों को भूल कर या अपना विश्लेषण करने के प्रयास करने के बजाय, उसी सूत्रीकरण से न केवल चिपके हुए हैं बल्कि उन्होंने इसे शरीयत या सुन्नत की तरह उसूल का दर्जा दे दिया है और मुसलमान होने की शर्त मान लिया है। बहुत अच्छा होता अगर साथी लोग मार्क्सवाद–लेनिनवाद–माओ विचारधारा के उसूलों को मार्क्स, लेनिन या माओ के मूल्यांकनों से अलग करके इस्तेमाल करते। मार्क्सवाद–लेनिनवाद–माओ विचारधारा के उसूल सही हैं जबकि आकलन अथवा मूल्यांकन की गलतियां मार्क्स, लेनिन, माओ सभी से हुई हैं। आकलन की इन गलतियों को आगे बढ़ा कर हम क्रांतियां नहीं कर सकते।

भारतीय पूंजीपतियों के चरित्र को समझने के लिए आइये थोड़ी देर के लिए भारत के मझोले पूंजीपति के चरित्र पर विचार किया जाये। उन लोगों के चरित्र पर जो कि इजारेदार पूंजीपति नहीं हैं और जिन्हें भारत सरकार आजकल मध्यम व छोटे पैमाने के क्षेत्र (medium & small scale sector) में गिनती है (जिन उद्योगों का वर्गीकरण भारत सरकार घरेलू उद्यमों (cottage industries या tiny sector) में करती है, वे मझोले पूंजीपतियों में नहीं आते, उन्हें निम्न पूंजीपति वर्ग के कारोबार में माना जाना चाहिये)। दलाल व राष्ट्रीय पूंजीपति के सूत्रीकरण के तहत ये मझोले पूंजीपति ही राष्ट्रीय पूंजीपति होते हैं, जो कि दलाल पूंजीपतियों की तरह साम्राज्यवाद–परस्त नहीं होते और जो नव–जनवादी क्रांति के ढुलमुल दोस्त होते हैं। इनके संदर्भ में मूल सवाल यह है कि द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति के बाद, साम्राज्यवाद के पीछे हटने के दौर में (या जिस दौर को अति उत्साह में साम्राज्यवाद के विघटन का दौर भी कहा गया है) इनके आगे बढ़ने और फूलने–फलने के अवसर प्रत्यक्ष उपनिवेशवाद की स्थितियों से कहीं बेहतर थे। तब भी क्यों 'राष्ट्रवादी मझोले पूंजीपतियों' का 'साम्राज्यवादपरस्त बड़े दलाल पूंजीपतियों' से अन्तरविरोध उभर कर सामने नहीं आया? क्यों मझोले पूंजीपतियों ने बड़े पूंजीपतियों की साम्राज्यवाद से करीबी का विरोध अपने स्वतंत्र संगठन या पार्टियां बनाकर नहीं किया जबकि भारतीय समाज के अन्य कमजोर वर्गों/तबकों ने ऐसा किया (मार्क्सवादी–लेनिनवादियों के रूप में सर्वहारा के अपने संगठन हैं, CPI-CPM के रूप में अभिजात मजदूर व निम्न बुर्जुआ वर्ग के संगठन मौजूद हैं, BKU इत्यादि धनी और मध्यम किसान समुदाय के संगठन अस्तित्व में आये...)?

इसका कारण बहुत साफ है। साम्राज्यवाद से रिश्ते कायम करने के मामले में बड़े व मझोले पूंजीपतियों में कोई बुनियादी अंतरविरोध नहीं है, महत्वपूर्ण अंतरविरोध भी नहीं हैं। बड़े पूंजीपति जितने राष्ट्रवादी हैं उतने ही मझोले हैं और बड़े पूंजीपति जितने साम्राज्यवाद परस्त हैं उतने ही ये भी हैं, इसलिए कांग्रेस, भाजपा गठबंधन इत्यादि से अलग हटकर मझोले पूंजीपतियों को अपनी किसी अलग पार्टी की जरूरत नहीं है। जो बड़े पूंजीपतियों की पार्टियां हैं वही इनकी भी पार्टियां हैं। आखिर 1950–51 के दौर में कांग्रेसियों ने छोटे पैमाने के क्षेत्र (small scale sector) के लिए 836 वस्तुएं आरक्षित कर दी एवं अन्य रियायतें व सुविधाएं भी उपलब्ध करवायी थी। सबसे ज्यादा हैरानी की बात तो यह है कि जब 1991 के बाद भारत में साम्राज्यवादी प्रभाव बढ़ रहा है तब भी मझोले पूंजीपतियों का कोई स्वतंत्र राजनीतिक संगठन/पार्टी राष्ट्रवाद के नारे बुलन्द करते हुए आगे नहीं आ रही है, जबकि निम्न पूंजीपति वर्ग ने अपने वंदना शिवा व नंजुदास्वामी पैदा किये। अगर मझोले पूंजीपति क्रांति के ढुलमुल दोस्त, राष्ट्रीय बुर्जुआ होते तो ऐसा जरूर होना चाहिए था। भारत के मझोले बुर्जुआ का चरित्र चीन के मझोले बुर्जुआ से बहुत भिन्न है।

'इंटरनेशनल फाइनेंस कार्पोरेशन' (IFC) विश्व बैंक से संबंधित एक वित्तीय संस्था है। इसका काम अविकसित देशों में, निजी उद्यमों में पूंजी निवेश करना (विश्व बैंक सामान्यतः सरकारी परियोजनाओं में ही पैसा लगाता है) और विदेशी इजारेदार पूंजी तथा देशी इजारेदार पूंजी के मध्य संश्रय स्थापित करवाना है। 1982 में इसके प्रतिनिधियों ने भारत के सभी महत्वपूर्ण औद्योगिक केन्द्रों का दौरा किया और उन्होंने व्यवसाइयों एवं उद्योगपतियों को यह समझाने का प्रयास किया कि (IFC) बड़ी परियोजनाओं के साथ–साथ छोटे व मध्यम दर्जे की परियाजनाओं में भी पैसा लगाने को तैयार है बशर्ते ऐसी

परियाजनायें वाणिज्यिक दृष्टि से व्यवहारिक हों। ऐसे ही 1978 में, डेविड आर्टको ,'इंडो अमेरिकन चैम्बर्स आफ कामर्स' के अध्यक्ष ने लिखा है कि *''निजी क्षेत्र में ,दवा उत्पादन, रसायनों के उत्पादन, मशीन टूल्स, इंजीनियरिंग व आटोमोबाइल उद्योग, कृषि सामग्री, लोहे के सामानों के उत्पादन... सब जगह अमेरिकी साझेदारी टाटा, किर्लोस्कर, महिन्द्रा जैसे बड़े उद्योगपतियों तक सीमित नहीं रही हैं। छोटे तथा मध्यम पैमाने के उद्यमों में भी अमेरिकी साझेदारी रही है।''* (देखें– The Indian Big Bourgeoisie, Suniti Kumar Ghosh, 2000, पृष्ठ–25 अनुवाद हमारा)। यही कारण है कि भारत का मझोला पूंजीपति अपने बड़े भाई इजारेदार पूंजीपति की तरह राष्ट्रवादी सुधारों में तो दिलचस्पी लेता है लेकिन साम्राज्यवाद–विरोधी क्रांति का विरोधी है।

भारतीय पूंजीपतियों के चरित्र को समझने के लिए आइये इस अनुभाग के अन्त में एक और दिलचस्प सवाल पर विचार करें, क्या अपने राष्ट्रीय बाजार में साम्राज्यवाद के प्रभाव को कम करके उसे एक हद तक अपने लिए संरक्षित करके भारतीय पूंजीपति संतुष्ट है। इसका जवाब है, जी नहीं! भारत के पूंजीपति न केवल अपना घरेलू बाजार अपने लिये चाहते हैं बल्कि वे विदेशों में भी हाथ–पैर मारते रहते हैं। 1985 में भारत ने भूटान, बांग्लादेश, नेपाल, श्रीलंका, मालदीव व पाकिस्तान को साथ लेकर सार्क (SAARC) का गठन किया। इस संगठन में भारतीय पूंजीपति दूसरों पर हावी हैं। भारतीय पूंजीपतियों की महत्वाकांक्षा है कि पूरा दक्षिण एशिया क्षेत्र इनका संरक्षित बाजार बने। इस दिशा में 1991 में इन्होंने 'साउथ एशिया प्रिफ्रैन्शियल ट्रेडिंग अरेंजमैन्ट' (SAPTA) की ओर कदम बढ़ाया। यदि पाकिस्तान से भारत अपने सम्बन्ध सुधार लेता है तो 'साउथ एशिया फ्री ट्रेड अरेंजमेंट' (SAFTA) की स्थापना हो जायेगी। 1990 के दशक के शुरू में भारत सार्क देशों से सम्मिलित रूप में जितना आयात करता था, उससे ढाई गुना ज्यादा उन्हें निर्यात करता था। SAFTA भारतीय पूंजीपतियों की क्षेत्रीय महत्वाकांक्षाओं का प्रमाण है।

अफ्रीकी देशों से भारत के व्यापारिक रिश्तों की स्थिति यह है कि वे भारत को मूलतः कच्चा माल निर्यात करते हैं और भारत उन्हें तैयार माल – रसायन, दवाएं, इंजीनियरिंग सामग्री, कपड़े इत्यादि।

27 मार्च 1984 को लोक सभा में एक प्रश्न के जवाब में भारत के बड़े पूंजीपति घरानों के विदेश कारोबार के सम्बन्ध में बड़े दिलचस्प आंकड़े सामने आये। 1964 से 1980 के बीच में (जब भारत अपने यहां प्रत्यक्ष पूंजी निवेश को निरूत्साहित कर रहा था) भारत द्वारा किया जाने वाला प्रत्यक्ष विदेशी पूंजी निवेश 30% की सालाना दर से बढ़ा। उन दिनों (1982) के रूपये की कीमतके हिसाब से इन घरानों के घरेलू व विदेश कारोबार की स्थिति इस प्रकार (तालिका–1,देखें) थी।

विदेशों में भारतीय घरानों का पूंजी निवेश साम्राज्यवादियों के वैश्विक कारोबार की तुलना में कुछ भी नहीं है,परन्तु इसके आइने में भारतीय पूंजीपतियों की कोशिशों और नीयत को पढ़ा जा सकता है। यह बहुत साफ है कि भारत के पूंजीपति न केवल भारत व दक्षिण एशिया के आर्थिक जगत के बड़े खिलाड़ी होना चाहते हैं बल्कि ये वैश्विक रंगमंच पर अपनी उपस्थिति दर्ज कराने की भी कोशिशें कर रहे हैं।

तालिका–1

क्रम संख्या	औद्योगिक घराना	Paid up capital of compnies belonging to the house in India, end-1982 (Rs. lakh)	Paid up capital of JVA's belonging to the house, end- 1982 (Rs. lakh)	अनुपात (3/2) (प्रतिशत में)
	1	2	3	4
1	उषा मार्टिन (जवाहर)	449	383.26	85.36
2	मोहन मीकिन्स	425	353.90	83.27

3	थापर	5865	4506.24	76.83
4	एन. वाडिया	1282	835.35	65.16
5	एम.एस. ओबराय	1483	623.55	42.05
6	बिडला	17425	7004.27	40.20
7	गोदरेज	1091	324.97	29.76
8	मोदी	3475	930.90	26.79
9	एम.ए.चिदम्बरम	707	188.45	26.65
10	सारा भाई	3126	738.45	23.62
11	कामानी	558	99.31	17.80
12	जे.के. सिहानिया	5243	794.47	15.15
13	सूरजमल–नागरमल	479	70.93	14.81
14	टाटा	24833	2969.13	11.96
15	हरिबल्लभ दास (श्री अम्बिका)	860	102.17	11.95
16	आई.टी.सी.	3378	373.00	11.04
17	किर्लोस्कर	3780	410.32	10.86

18	मुरुगप्पा चेट्टीयार	982	61.09	6.22
19	सिंधिया	1927	89.92	4.62
20	मफतलाल	8680	334.67	3.86

शीत युद्ध की समाप्ति के बाद का दौर

1980 के दशक के मध्य से भारतीय पूंजीपति वर्ग के लिए क्रमशः अनुकूल होती हुयी विश्व परिस्थितियों का ग्राफ नीचे की ओर लुढ़कना शुरू हुआ। एक साथ कई प्रक्रियाएं एक मुकाम पर पहुंचीं और नये अन्तर्राष्ट्रीय समीकरण उभरने लगे। इनमें दो प्रक्रियाएं प्रमुख हैं। एक, एशिया–अफ्रीका– लातिन अमेरिका के देशों में राष्ट्रीय मुक्ति संघर्षों की लहर प्रत्यक्ष उपनिवेशों की समाप्ति के साथ थमने लगी। दो, सोवियत संघ और पूर्वी यूरोप का राजकीय इजारेदार पूंजीवाद ठहराव ग्रस्त होने पर विघटन व परिवर्तन (पेरेस्त्रोइका) के चरण में दाखिल हुआ। '90 के दशक की शुरूआत होते–होते पूर्वी यूरोप व सोवियत–संघ की संशोधनवादी सत्ताएं समाप्त हो गयीं, सोवियत खेमा टूट गया और इसके देशों का बालकनीकरण हो गया। परिणामस्वरूप संयुक्त राज्य अमेरिका के नेतृत्व में पश्चिमी साम्राज्यवाद पूरी दुनिया पर हावी होने लगा। इस घटनाक्रम ने एक मायने में साम्राज्यवादी संकट को हल्का किया क्योंकि अमेरिका की सरपरस्ती में एक समरूप नीति के तहत विश्व अर्थव्यवस्था को संचालित किया जा सकता था। ऐसी स्थिति में साम्राज्यवाद के लिये विश्व व्यापार संगठन (WTO) जैसी शक्तिशाली संस्थाएं खड़ी करना संभव हुआ जो कि '70 के दशक या '80 के दशक में कतई संभव नहीं था।

सोवियत खेमे के विघटन के पहले ही, '80 के दशक में, भारतीय पूंजीपति वर्ग ने साम्राज्यवाद से सीमित अलगाव (autarky) वाली संरक्षणवादी–नियंत्रणवादी अर्थव्यवस्था के माडल की सीमाओं को स्वीकारा। जब से भारतीय अर्थव्यवस्था देशी पूंजीपतियों की कमान में आयी है, इसका कोई दशक ऐसा नहीं रहा है जब इसने किसी तीखे संकट का सामना न किया हो। दरअसल एक संकट से दूसरे संकट में लुढ़कते हुए ही यह आगे बढ़ती रही है। '80 का दशक आते–आते भारतीय पूंजीपति वर्ग ने स्वीकारा कि इस माडल में निम्न विकास दर (3.5% से कम कुख्यात 'हिंदू विकास दर') की समस्या एवं इसके चिरंतन संकट का इसके भीतर कोई समाधान नहीं है। उसने इसे बदलने का नीतिगत निर्णय लिया और '80 के दशक के मध्य से अपनी अर्थव्यवस्था को साम्राज्यवादी घुसपैठ के लिए क्रमशः खोलना शुरू किया। राजीव गांधी के जमाने में सातवीं पंचवर्षीय योजना (1985-90) के काल में भारतीय पूंजीपति वर्ग स्पष्टतः इस नये रास्ते पर चलने लगा था। '80 के दशक के अन्त के भुगतान संतुलन एवं अंतर्राष्ट्रीय परिस्थिति में आये महत्वपूर्ण परिवर्तनों ने, 1991 में इस नये सफर में तेजी ला दी। 1991 में औपचारिक तौर पर शुरू की गई नई आर्थिक नीति राजीव गांधी के जमाने की ही नयी नीतियों का और उच्च धरातल पर जारी रुप है। पिछले 10–12 वर्षों में भारत की संप्रभुता (sovereignity) पर जो साम्राज्यवादी दबाव बढ़ रहा है वह पर्याप्त चर्चा का विषय रहा है और हमारे देश का मार्क्सवादी–लेनिनवादी साहित्य इसके बयानों से भरा पड़ा है,उन्हें हम यहां दोहरायेंगे नहीं। किन्तु ढांचागत समायोजन के विभिन्न पक्षों की भी चर्चा करते समय एक आवश्यक निष्कर्ष जो निकाला जाना चाहिए और जो सामान्य तौर नहीं निकाला जा रहा है वह यह है कि 1947 से 1990 के बीच भारतीय बुर्जुआ द्वारा कुछ ऐसा निर्मित किया गया था जिसे अब खोया जा रहा है। वह क्या चीज थी जो अब तक थी और जो अब समाप्त हो रही है? वह चीज थी विश्व साम्राज्यवादी ढांचे के भीतर एक हद की स्वायत्ता, या दूसरे शब्दों में सीमित अलगाव (autarky)।

लगभग साढ़े तीन दशकों तक भारत का पूंजीपति वर्ग इस अटार्की की व्यवस्था के भीतर फूला–फला और इस लायक बना कि विश्व साम्राज्यवादी व्यवस्था के भीतर उसे कनिष्ठ साझेदार (junior partner) की हैसियत प्राप्त हो सके। यहां महत्वपूर्ण प्रश्न यह बनता है कि जिस वर्ग ने टुकड़ों–टुकड़ों में, कमजोर आंशिक संघर्षों और क्रमिक सुधारों के जरिये ,यह स्थिति (कनिष्ठ साझेदार की हैसियत) हासिल की, क्या वह वर्ग इसे बचाने के लिए संघर्ष नहीं करेगा? क्या वह यूं ही आत्मसमर्पण कर रहा है, क्या वह अपना सब कुछ साम्राज्यवादियों को लुटा देगा? क्या जहां से उसने अपनी यात्रा शुरू की थी (साम्राज्यवादियों की दलाली से), वह अपनी हैसियत खो कर पुनः उसी स्थिति में पहुंच जायेगा, कि अपनी राजनीतिक आजादी पूर्णतः खोकर एक परनिर्भर दलाल में बदल जायेगा? यदि वैश्वीकरण के वर्तमान दौर का सतही विश्लेषण न किया जाय और मामले की गहराई में जाया जाय तो हम पायेंगे कि न तो भारतीय बुर्जुआ और न ही सामान्य तौर पर तीसरी दुनिया के शेष पूंजीपति शासक आत्मसमर्पण कर रहे हैं। यह सही है कि प्रतिकूल परिस्थितियों में उन्हें पीछे हटना पड़ रहा है और अपने यहां साम्राज्यवाद को घुसने देना पड़ रहा है परन्तु जो हो रहा है न तो वह पुनः उपनिवेशीकरण है और न ही वह देशी पूंजीपतियों द्वारा आत्मसमर्पण। वैश्वीकरण की नयी स्थितियों में भी साम्राज्यवादियों और देशी पूंजीपतियों के बीच अंतरविरोध मौजूद है, यह तिरोहित नहीं हुआ है। वैश्वीकरण की नयी स्थितियों में भी देशी पूंजीपति अपनी हैसियत को बनाये रखने के लिए संघर्षरत हैं और यह संघर्ष आगे भी जारी रहेगा हालांकि यह अब साम्राज्यवादी अर्थव्यवस्था और तीसरी दुनिया की अर्थव्यवस्थाओं के एकीकरण के उच्च स्तर पर होगा। दूसरे शब्दों में कहा जाय आने वाले वक्त में भी चावेज, महातिर जैसे लोग पैदा होंगे।

वैश्वीकरण के वर्तमान दौर में भी तीसरी दुनिया का बुर्जुआ अपना मार्केट शेयर घटवाने के बावजूद कनिष्ठ साझेदार की अपनी हैसियत नहीं खोयेगा और साम्राज्यवादियों की कठपुतली नहीं बनेगा। इस बात को समझने के लिये आइये भारत का ही उदाहरण लें।

1991में जब ढांचागत समायोजन कार्यक्रम लागू हुआ तब अन्य दीर्घकालिक कारणों के अलावा इसके लागू होने के पीछे भुगतान संतुलन की फौरी समस्या थी। उस समय विदेशी मुद्रा भंडार लगभग खाली था, केवल 15 दिन के आयात भर (करीब 1 अरब डालर) विदेशी मुद्रा बची थी। अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थाएं भारत को और कर्ज देने के लिए तैयार नहीं थीं। कर्ज की प्रकृति भी बहुत बुरी थीः गैर–सरकारी निजी ऋण का हिस्सा एवं परिवर्ती ब्याज दरों पर मिले ऋण का हिस्सा कुल ऋण में काफी ज्यादा था। ऐसे में भविष्यवाणियां की जा रही थी कि भारत कर्ज जाल में फंस जायेगा और साम्राज्यवादियों के आगे नाक रगड़ेगा। आज एक दशक बाद क्या स्थति है? एक दशक बाद भी भारत कर्ज जाल में नहीं फंसा। कर्ज जाल में फंसना तो दूर एक दशक बाद भारत के ऊपर कर्ज की समस्या कुछ हल्की हुई है। कर्ज भुगतान अनुपात (अर्थात विदेशी कर्ज के मूलधन व ब्याज की किस्त किसी देश के निर्यात का कितना हिस्सा बनती है) 1999 आते–आते 1991 के स्तर 32.7% से घटकर 19% रह गया। और इससे भी महत्वपूर्ण बात यह कि सन् 2002 के अन्त में विदेशी मुद्रा भंडार में 65 अरब डालर हैं। ढांचागत समायोजन कार्यक्रम के एक दशक बाद भी कर्ज जाल में फंसे होने के कारण साम्राज्यवादियों की जी–हुजूरी करना भारतीय पूंजीपति की नियति नहीं है।

आज जब विदेशी वस्तुओं के आयात के लिए भारत के कपाट पूरी तरह खोल दिये गये हैं, विदेशों से आयात पर समस्त मात्रात्मक बंदिशें हटा ली गई हैं, किसी भी वस्तु पर 50% से अधिक आयातकर नहीं है तब क्या साम्राज्यवादियों ने भारतीय पूंजीपति के घरेलू बाजार पर कब्जा कर लिया है? जब विश्व व्यापार संगठन अस्तित्व में आ रहा था तो सभी सतही विश्लेषक देशी पूंजीपतियों के लिये ऐसे ही अनिष्ट की भविष्यवाणियां कर रहे थे। परन्तु ज्योतिषियों की भविष्यवाणियों को गलत साबित करते हुए देशी पूंजीपति अभी भी भारतीय बाजार के बहुलांश पर (4/5 से अधिक पर) कुंडली मार कर बैठा हुआ है। इसमें कोई दो राय नहीं कि आयात की मात्रा बढ़ी है। आयात न केवल निरपेक्ष अर्थों में बढ़ा है बल्कि सकल घरेलू उत्पाद के सापेक्ष भी बढ़ा है। परन्तु भविष्यवाणियों से ठीक उलट यह वृद्धि बहुत कम है। 1990–91 में आयात, सकल घरेलू उत्पाद का 8.2% था। सन् 2001–2002 में यह बढ़कर 10.5% हो गया। अर्थात अपने घरेलू बाजार पर भारतीय पूंजीपति की पकड़ ढीली तो हुई है, उसका मार्केट शेयर निस्संदेह घटा है, परन्तु अपने घरेलू बाजार से वह बेदखल नहीं हुआ है हालांकि उसे मामूली नुकसान उठाना पड़ा है। घरेलू बाजार का बहुलांश, WTO की स्थापना के आठ वर्ष बाद भी, देशी पूंजीपतियों के ही हाथ में है। या दूसरे शब्दों में कहें तो कम से कम भारत के बाजारों में देशी पूंजीपति साम्राज्यवादियों के सामने टिके रहने में सक्षम हैं।

यदि पूंजी निवेश के कोण से स्थिति का मूल्यांकन करना हो तो हालत यह है कि विदेशी पूंजी निवेश को आमंत्रित करने के लिये भारत सरकार हर सम्भव कोशिश कर रही है। ज्यादातर क्षेत्र प्रत्यक्ष विदेशी पूंजी निवेश (FDI) के लिये खोल दिये गये हैं। विदेशी संस्थागत निवेशकों (FII) के लिये देश के शेयर बाजारों की प्राथमिक (primary) और व्युत्पादित

(derivative) मंडियां दोनों खोली जा चुकी हैं। विदेशी पूंजी निवेश के रास्ते में लगभग सभी बाधाएं हटा दी गयीं हैं। जहां तक विदेशी पूंजी को सुविधाएं मुहैया करवाने की बात है तो इस मामले में भारत सरकार ने इतने ज्यादा लाल गलीचे बिछा दिये हैं कि देशी पूंजीपतियों को 'लेवल–प्लेयिंग फील्ड' की मांग करनी पड़ी। इस सब के बावजूद देशी–विदेशी निवेश की वास्तविक स्थिति क्या है? भारतीय अर्थव्यवस्था में देशी पूंजी निवेश हर वर्ष 95–100 अरब डालर के करीब है। छूट दिये जाने के बावजूद अब तक किसी भी वर्ष में समग्र विदेशी पूंजी निवेश 6 अरब डालर से अधिक नहीं रहा है। इस साम्राज्यवादी पूंजी की मारक क्षमता कितनी ही ज्यादा क्यों न हो, इसका अनुपात देशी पूंजी के मुकाबले काफी छोटा है। या दूसरे शब्दों में कहें तो वैश्वीकरण के बावजूद भारतीय अर्थव्यवस्था का बड़ा हिस्सा अभी भी देशी पूंजीपतियों की गिरफ्त में है।

ऐसे ही यदि अन्य मानदण्डों के आधार पर देशी पूंजीपति वर्ग एवं साम्राज्यवादियों के बीच के संतुलन का वस्तुनिष्ठ आकलन करने की कोशिश की जाये तो हम पाते हैं कि वैश्वीकरण के एक दशक बाद भी, भारतीय मजदूरों/मेहनतकशों की श्रम शक्ति के शोषण की समग्र परियोजना में जो साझेदारी हो रही है उसमें भारतीय पूंजीपति वर्ग अभी वरिष्ठ साझेदार है और साम्राज्यवादी कनिष्ठ साझेदार। यदि संदर्भ भारतीय अर्थव्यवस्था तक ही सीमित ना रखा जाये बल्कि इसे विस्तृत करके इसमें पूरी दुनिया को समेटा जाये तो हम पाते हैं कि स्थिति उल्टी है, यहां तीसरी दुनिया का देशी पूंजीपति कनिष्ठ साझेदार है और साम्राज्यवादी वरिष्ठ साझेदार। पिछली सदी के वर्ग संघर्षों की बदौलत इतिहास जितना आगे बढ़ चुका है उसे एक सीमा के बाद और पीछे नहीं धकेला जा सकता है। जैसे आज यह संभव नहीं रह गया है कि दुनिया में पहले की तरह के प्रत्यक्ष उपनिवेश कायम किये जायें वैसे ही अब यह भी सम्भव नहीं है कि जो साझेदार बन चुका हो उसे पुनः एक कठपुतली दलाल में तबदील कर दिया जाये। यह तो मुमकिन है कि कनिष्ठ साझेदार का साझेदारी में हिस्सा घटा दिया जाये, परन्तु उसे साझेदारी से पूर्णतः बेदखल करके तीसरी दुनिया की अर्थव्यवस्थाओं पर अपना पूर्ण नियंत्रण कायम कर लेना साम्राज्यवाद के लिये मुमकिन नहीं है। आज साम्राज्यवादियों की यह इतिहासजन्य मजबूरी है कि वे देशी पूंजीपतियों की राजनीतिक आजादी को एक हद तक स्वीकारें और इनके साथ बेशी मूल्य के दोहन में हिस्सा बंटायें अर्थात जब भारतीय पूंजीपति (एवं तीसरी दुनिया के अन्य पूंजीपति) कमजोर था, जब उसके पास अपना राष्ट्र–राज्य नहीं था और बाहरी दुनिया में भी जब मूलतः उपनिवेशवाद था, तब यदि यह वर्ग इस दुनिया में अपनी जगह बनाने के लिये संघर्ष कर सकता था तो कोई वजह नहीं कि आज की बेहतर परिस्थितियों में जब साम्राज्यवाद अपेक्षाकृत कमजोर है,जब भारतीय पूंजीपति वर्ग पहले से ज्यादा बड़ा व सबल हो गया है, इसके पास अपना राष्ट्र–राज है तब यह संभावना नहीं है कि साम्राज्यवादी इसे पुनः दलाल में तब्दील कर दें। साम्राज्यवादियों को इसे अपने कनिष्ठ साझेदार के बतौर बर्दाश्त करना पड़ेगा। इसे इस हैसियत से केवल एक वर्ग ही गिरा सकता है, वह वर्ग है सर्वहारा। सर्वहारा इसकी हैसियत को कम नहीं करेगा, वह इसे दुनिया के रंगमंच से ही बेदखल कर देगा।

लघु उद्यमी

भारत की 34–35 लाख इकाइयों में से दसियों लाख इकाइयां ऐसी हैं जिनमें बहुत थोड़ी पूंजी लगी है। चन्द लाख रूपयों के निवेश से ऐसी इकाइयां खड़ी हैं और उनमें से प्रत्येक इकाई में अधिक से अधिक 15–20 लोग काम करते हैं। इनके मालिकों की हैसियत ऐसी नहीं है कि वे काम की देख–रेख के लिये कोई पेशेवर प्रबन्धक रख सकें। ऐसे में समस्त मार्केटिंग एवं प्रबन्धन कार्य वे स्वयं ही संभालते हैं। बाज मौकों पर वे और उनके परिवार के सदस्य उत्पादन प्रक्रिया में भी एक हद तक की शिरकत करते हैं। उत्पाद के मूल्य को पैदा करने में इनके श्रम का योगदान होता है। इनका अपना श्रम इनकी आमदनी का एक हिस्सा बनता है। ऐसे उद्यमी भारत के लघु उद्यमी हैं। इनकी पूंजी टूटती–बनती रहती है और उद्यमियों के बतौर इनका अस्तित्व दांव पर लगा रहता है। ये पूंजीपति वर्ग में शामिल नहीं हैं। ये निम्न पूंजीपति वर्ग के अंग हैं। इन्हें उन लोगों के साथ गड्ड–मड्ड नहीं किया जाना चाहिए जिन्हें भारत सरकार छोटे पैमाने का क्षेत्र (small scale sector) मानती है। ''स्माल स्केल सैक्टर'' की इकाइयों के मालिक सामान्यतः टुटपूंजिया लोग नहीं हैं। इनके द्वारा निवेश की गयी पूंजी चन्द लाख रूपयों तक सीमित नहीं है, ये करोड़पति लोग हैं। भारत सरकार की औपचारिक स्वीकृति के मुताबिक 'स्माल स्केल सैक्टर' की ऊपरी सीमा 5 करोड़ रूपये है। ऐसे मालिक स्वयं उत्पादन में हिस्सेदारी नहीं करते हैं। निरीक्षण के

लिए ये सुपरवाइजर रखते हैं और अक्सर कोई पढ़ा–लिखा आदमी इनके यहां पेशेवर प्रबन्धक की हैसियत से काम कर रहा होता है। 'स्माल स्केल सैक्टर' के ऐसे मालिक परोपजीवी हैं, और ये मझोले पूंजीपतियों की निचली पर्त हैं। 'टाइनी सैक्टर' (tiny sector) के लघु उद्यमियों से इनका चरित्र नितांत भिन्न है।

लघु–उद्यमी भारतीय क्रांति का ढुलमुल दोस्त है। क्रांतिकारी वर्ग संघर्षों में इसे तटस्थ किया जा सकता है या फिर साथ भी लिया जा सकता है। परन्तु भारत के मझोले पूंजीपति (स्माल स्केल सैक्टर के उद्योगपतियों समेत) पूर्णतः परोपजीवी हैं,और इन्हें क्रांति के प्रति तटस्थ नहीं बनाया जा सकता। ये क्रांति के दुश्मनों की कतारों में खड़े हैं। भले ही कुछ कम्युनिस्ट क्रांतिकारी अपने मनोगतवाद के चलते इनके प्रति कितने ही नरम हो लें, इनके जीवन का वस्तुगत यथार्थ इन्हें क्रांति का दुश्मन बनाता है। पूंजीवादी संकटों के गहराने पर इन्हें अपने ऊपर वालों से दिक्कतें जरूर होती हैं (ऊपर के पूंजीपति इन्हें प्रतियोगिता में पीट देते हैं), परन्तु पूंजीवादी संकटों के क्रांतिकारी समाधानसे इन्हें उससे कहीं ज्यादा दिक्कत है। ये अनिवार्य तौर पर क्रांति के खिलाफ साम्राज्यवाद का पक्ष चुनते हैं। अपनी महत्वाकांक्षाओं के चलते भी ये साम्राज्यवाद से सटते हैं। उसके वेंडर (पुर्जा निर्माता), फ्रैंचाइजी या डिस्ट्रिब्यूटर बनने का प्रयास करते हैं। जो कम्युनिस्ट क्रांतिकारी 'स्माल स्केल सैक्टर ' के उद्योगपतियों को राष्ट्रीय–बुर्जुआ मानते हैं उन्हें यह जानकर हैरानी होगी कि भारत के कुल निर्यात में, एक तिहाई हिस्सा इन उद्योगपतियों का है। यह अकारण नहीं है कि अपने व्यवहार में वतनपरस्त होने के बजाय ये वैश्वीकरण के सबसे प्रबल समर्थकों में से है।

सन्– 2000 में सर्वोच्च न्यायालय के 'पर्यावरणवादी फैसले' के तहत जो लोग दिल्ली में उजाड़े गये थे वे ज्यादातर लघु–उद्यमी थे, मझोले पूंजीपति नहीं। इस फैसले के खिलाफ जो वर्ग सड़कों पर मूलतः उतरा वह मजदूर वर्ग था। लघु–उद्यमियों ने मजदूर वर्ग का साथ दिया। बहुत थोड़े से पूंजीपति दिल्ली के सफाये से प्रभावित हुए। वे पहले ही अपना कारोबार अधिकृत इलाकों में या दिल्ली के बाहर जमा चुके थे। उनकी आर्थिक हैसियत एवं राजनीतिकज्ञों–नौकरशाहों से उनके गहरे संपर्क उन्हें इस काबिल बनाते हैं। सर्वोच्च न्यायालय के फैसले ने इन्हें बहुत कम प्रभावित किया जबकि सर्वहारा एवं लघु उद्यमियों के पेट पर इससे सीधे लात पड़ी। वर्गीय हैसियत का यही अन्तर एक को व्यवस्थापरस्त बनाता है और दूसरे को व्यवस्था के प्रति शंकालु और विराधी।

भारत के बड़े पूंजीपतियों को दलाल कहना क्यों गलत है?

1942 में जब धुरी राष्ट्रों की जीत आसन्न लग रही थी (नाज़ी जर्मनी ने लगभग पूरे यूरोपीय महाद्वीप पर कब्जा कर लिया था और इधर जापानी आक्रमण के सामने मलाया व बर्मा में मित्र–राष्ट्रों की फौंजें पिट रही थी) तब भारत के बड़े पूंजीपति अंग्रेजों का साथ छोड़ कर नये संश्रय कायम करने की सोचने लगे थे। गांधी के दांये हाथ माने जाने वाले पट्टाभि सीतारमैया ने अपनी भावनाओं को इस प्रकार व्यक्त किया *''क्या भारत को अपनी डोर एक डूबते जहाज से बांधे रखनी चाहिये, अपनी गाड़ी एक डूबते हुए सितारे के साथ नत्थी रखनी चाहिये?''* बालचंद–हीराचंद भारत के बड़े पूंजीपतियों में सबसे ज्यादा अंग्रेज–परस्त माने जाने वालों में थे ('हिन्दुस्तान एयर क्राफ्ट कंपनी के निर्माण में इनकी बहुत अहम् भूमिका थी)। उन दिनों एडगर स्नो से एक साक्षात्कार के दौरान उन्होंने साफ तौर पर कहा था कि वे जापान के साथ जाने को तैयार हैं। अगर धुरी राष्ट्र विश्वयुद्ध में विजयी हुए होते तो भारतीय बुर्जुआ सुभाष चंद्र बोस जैसे कांग्रेसियों के नेतृत्व में अपनी ओर से जापान–जर्मनी के साथ नये संश्रय कायम करते, हालांकि समाजवाद की शिकस्त के बाद जो दुनिया अस्तित्व में आती उसमें तीसरी दुनिया के राष्ट्रवाद के लिये स्थितियां काफी प्रतिकूल होतीं। दलाल पूंजीपति अपने आका के प्रति वफादार होता है। भारतीय बुर्जुआ ऐसा नहीं है। वह पूर्ण मौकापरस्त है। इतिहास के अलग–अलग दौरों में अपने हितों और जरूरतों को ध्यान में रखते हुए अलग–अलग देशों के साम्राज्यवादियों से उसकी करीबी व दूरी घटती–बढ़ती रही है। यदि 1940 के दशक में वह ब्रिटेन के सबसे करीब था, तो '60 के दशक में अमेरिका के करीब हो गया, '70 के दशक में सोवियत साम्राज्यवादियों के और फिर '90 के दशक में वह पुनः अमेरिका के करीब हो गया। उक्त व्यवहार दलाल –पूंजीपतियों के चरित्र से मेल नहीं खाता है।

कोई सोच सकता है कि हम यूं ही बाल की खाल निकाल रहे हैं। कि दलाल–पूंजीपति स्थापित शब्द है, हमें इसे चलने देना चाहिये क्योंकि इसे इस्तेमाल करने में कोई हर्ज नहीं है। कि दलाल–पूंजीपति सूत्रीकरण थोड़ा ''वाम'' की ओर ही तो झुका हुआ है, यह हमें बुर्जुआ के प्रति भ्रम से बचायेगा ही, दक्षिणपंथी भटकावों से हमारी रक्षा ही करेगा। हम ऐसे नेकनियत साथियों से कहना चाहेंगे कि बात दरअसल उल्टी है। कि चूंकि यह सूत्रीकरण गलत है, इसलिए यह ऐसी ही दिक्कतें, भ्रमों को पैदा करता है, सर्वहारा एवं क्रांति के अन्य मित्रों की वर्ग–धार को भोंथरा करता है। दलाल –पूंजीपति सूत्रीकरण से पैदा होने वाली दिक्कतें इस प्रकार हैं :––

◆ यदि भारतीय पूंजीपति वर्ग की खुदमुखतारी को अनदेखा किया जाये, जैसा कि दलाल–पूंजीपति सूत्रीकरण में स्वाभाविक है, तब हमें अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में इसके व्यवहार (गुटनिरपेक्ष आंदोलन, G–77 इत्यादि को खड़ा करने के पीछे इसके वर्ग हित एवं नीयत) को समझने में कठिनाई आती है। भारतीय शासक वर्ग की विदेश नीति की गलत समझदारी पर आधारित हमारी आलोचनाएं निशाने से परे होती हैं। हमारा प्रचार बेअसर होने लगता है।

◆ मझोले–पूंजीपति के भारत में पूर्णतः प्रतिक्रियावादी होने के बावजूद यह सूत्रीकरण हमें स्वाभाविक तौर पर मझोले पूंजीपति के प्रति नरम बनाता है। ऐसा इसलिए क्योंकि यदि अंधे होकर चीनी सूत्रीकरण को भारत के लिए भी लागू करना हो तो इसी सूत्रीकरण में दलाल–पूंजीपति (बड़े इजारेदार पूंजीपति) के सौतेले भाई के बतौर राष्ट्रीय बुर्जुआ (मझोला पूंजीपति), जो कि क्रांति का ढुलमुल दोस्त होता है, अनिवार्य तौर पर आ उपस्थित होता ही है। यह बात इस सूत्रीकरण में निहित है। इस सूत्रीकरण से निजात पाये बगैर इस गलती से बचा नहीं जा सकता है। व्यवहार में हो भी यही रहा है। हमारे देश के अधिकांश मार्क्सवादी–लेनिनवादी संगठनों के प्रचार एवं गतिविधियों में इस पूर्णतः क्रांति विरोधी वर्ग को तटस्थ करने अथवा क्रांति का मित्र बनाने की गरज से प्रगतिशीलता एवं सकारात्मकता ढूंढने की प्रवृत्ति मौजूद है। अपने देश की ठोस परिस्थितियों का ठोस विश्लेषण करने के बजाय, पुराने चीनी सूत्रीकरण से चिपके रहने के चलते हम वर्ग–शत्रु को वर्ग–शत्रु के रूप में देख ही नहीं पाते हैं।

◆ भारतीय पूंजीपतियों (इजारेदार एवं गैर इजारेदार दोनों) की अपनी महत्वाकांक्षाएं हैं। ये न केवल भारत के ही लोगों का शोषण व उत्पीड़न करते हैं,बल्कि ये पूरे दक्षिण एशिया क्षेत्र के लोगों का शोषण–उत्पीड़न करना चाहते हैं। ये यहां की राष्ट्रीयताओं के आन्दोलनों को कुचलते हैं और जरुरत पड़ने पर ये इस क्षेत्र के क्रांतिकारी आंदोलनों को कुचलने में सबसे आगे हैं (मसलन 1971 में श्रीलंका में जे.वी.पी. विद्रोह या फिर यदि आज नेपाल में माओवादी आंदोलन आगे बढ़ता है तो भारतीय सेना नेपाल में हस्तक्षेप करेगी ही)। ऐसी कार्यवाहियां ये अमेरिका या रुस के आदेश पर नहीं करते हैं। ऐसा ये स्वयं अपनी पहल पर, अपनी गरज से करते हैं। ये स्वयं दक्षिण–एशिया की मुख्य प्रतिक्रियावाादी शक्ति हैं। साम्राज्यवाद के दलाल (एवं राष्ट्रीय–पूंजीपति) सूत्रीकरण में भारतीय पूंजीपति की खुदमुखतारी का तत्व, दक्षिण एशिया में इसकी अपनी गुंडागर्दी का तत्व दब सा जाता है। भारतीय पूंजीपति के विस्तारवाद के खिलाफ सही क्रांतिकारी चेतना तभी पैदा होगी जब इसकी स्वतंत्र गति एवं खुदमुखतारी को स्वीकारा जाये और उसे दक्षिण एशिया की मुख्य प्रतिक्रियावादी शक्ति माना जाये।

◆ भारतीय समाज में, उसके आधार व अधिरचना में क्रमशः पूंजीवादी सुधार करने की इस शासक वर्ग की क्षमताओं का अहसास हमें तब तक नहीं होगा जब तक हम 'साम्राज्यवाद–दलाल पूंजीपति–सामंतवाद' के सूत्रीकरण से चिपके रहेंगे। ऐसी स्थिति में हो यह रहा है कि पूंजीपति तो शनैः–शनैः सामाजिक यथार्थ को अपनी आवश्यकताओं के अनुरुप बदलने के लिए कदम उठाते रहे हैं परन्तु हम नयी स्थिति के हिसाब से अपनी रणनीति नहीं बना पाते हैं। उदाहरण के लिए पिछले 40–50 वर्षों में क्रमिक सुधारों के जरिये पूंजीपति वर्ग ने भारतीय कृषि में इतने व्यापक परिवर्तन कर दिये हैं कि आज की महज 1/10 भूमि ही किसी तरह के किरायेदारी प्रबन्ध (बटायीदारी या अन्य) के तहत है, शेष 9/10 भूमि मालिकों द्वारा खुदकाश्त है। ऐसे में अब भारतीय कृषि में वर्ग–संघर्ष के संचालन के लिये *''जमीन हलवाहक की''* मुख्य नारा नहीं हो सकता है। यह स्थिति वर्गों की नयी लामबंदी एवं नयी रणनीति की मांग करती है, लेकिन हमारे देश के अधिकांश मार्क्सवादी–लेनिनवादी आज भी पुराने नारों को दोहरा रहे हैं और अपने ही निशाने से भटक रहे हैं। यदि प्रतिक्रियावादी भारतीय पूंजीपति वर्ग की पूंजीवादी सुधार करने की क्षमताओं का इन साथियों को अहसास होता है तो वे ऐसे भटकावों से बच जाते।

◆ साम्राज्यवाद से जुदा, भारतीय पूंजीपति वर्ग का भारत की जनता से अपना स्वतंत्र अंतरविराध है और हमारी रणनीति और रणकौशल इस सच्चाई को मानकर तय होने चाहिये। चूंकि दलाल–पूंजीपति' सूत्रीकरण में दलाल ऐसी चीज होता है जिसका अपने आका से स्वतंत्र अस्तित्व हो ही नहीं सकता इसलिये हम भारतीय पूंजीपति एवं भारतीय जनता के बीच के अन्तरविरोध के बुनियादी महत्व को पहचान नहीं पाते हैं। ऐसे में सामान्यतः साम्राज्यवाद और सामन्तवाद ही हमारे मुख्य निशाने पर होते हैं, जबकि भारतीय पूंजीवाद अपने प्रतिक्रियावाद को छिपा ले जाता है।

अन्त में

भारत का पूंजीपति वर्ग, चीन के 20वीं सदी के पूर्वार्ध के पूंजीपति वर्ग की तरह, दो हिस्सों––दलाल एवं राष्ट्रीय पूंजीपति––में विभक्त नहीं है। इस वर्ग का न तो कोई हिस्सा साम्राज्यवाद का दलाल है और न ही इसका कोई हिस्सा (गैर इजारेदार,मझोला या कोई अन्य) क्रांति का ढुलमुल मित्र, राष्ट्रवादी–बुर्जुआ है।

भारत के बड़े बुर्जुआ की उत्पत्ति अंग्रेजों के दलाल के बतौर हुई थी। लेकिन राष्ट्रीय आन्दोलन के काल में, अनुकूल घरेलू एवं विश्व परिस्थितियों में, इसका रुपान्तरण हुआ और यह एक मौकापरस्त राष्ट्रीय–सुधारवादी वर्ग (कौमिंटर्न का पुराना सही सूत्रीकरण) में तबदील हो गया। इसके चरित्र को परिभाषित करने के लिये,1967 से, दलाल–पूंजीपति का जो सूत्रीकरण प्रचलन में आया है वह गलत है। आज आर्थिक नव–उपनिवेशवाद के वर्तमान दौर में यह वैश्विक स्तर पर साम्राज्यवाद का कनिष्ठ साझेदार है, वैश्विक पैमाने पर हो रहे अतिरिक्त मूल्य संचय में इसे छोटा हिस्सा मिलता है। वैश्विक स्तर पर अतिरिक्त मूल्य संचय में इसके छोटे हिस्से और साम्राज्यवाद के बड़े हिस्से को सर्वहारा क्रांतियां ही समाप्त करेंगी।

❑ ❑ ❑